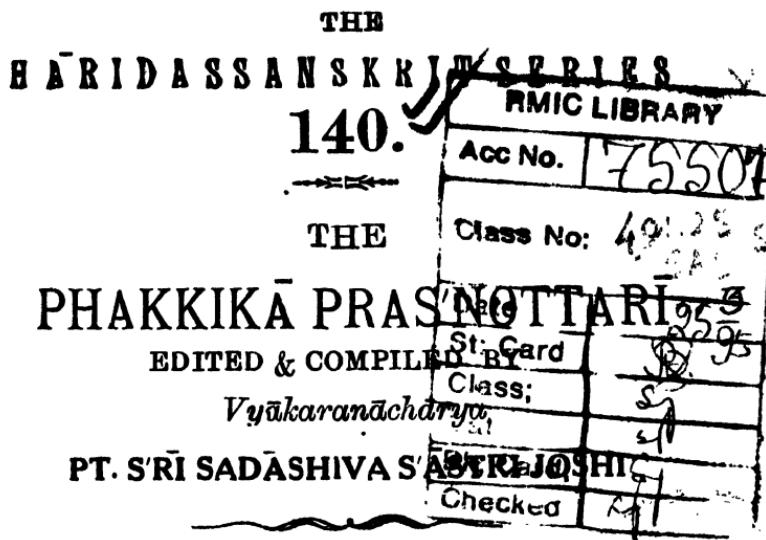


5

175507



॥ श्रीः ॥

फक्किकाप्रश्नोत्तरी

व्याकरणाचार्य-साहित्योपाध्याय—

जोशीत्युपाहृपण्डितसदाशिवशास्त्रिभिः सङ्कलिता
 तैरेव परिष्कृत्य संशोधिता च ।

PUBLISHED BY

JAYA KRISHNA DĀS HARIDĀS GUPTA

The Chowkhamba Sanskrit Series Office,

Benares City.

1941

→४३ भूमिका ४३←

विदितमेव तत्रभवताम्भवताम् , यत्किल वैयाकरणसिद्धान्तकोमुदीस्थफक्तिक-
कानां कीदृशं काठिन्यं छात्राणां बोधने लेखने चासीदिति । तत्र मया छात्राणां
फक्तिकार्थबोधनलेखनकाठिन्यक्लेशदूरीकरणाय ‘फक्तिकाप्रश्नोत्तरी’ निरमायि ।
अत्र प्रश्नोत्तर्या तत्तत्फक्तिकासु कीदृक् प्रश्नः सम्भवेत् , कथञ्च तस्य प्रश्नस्योत्त-
रमिति सम्यग्विचार्य तत्तत्फक्तिकासु प्रश्नः उत्तरञ्च व्यरचि । अनेन छात्राणां
सम्यक् बोधः स्यात् ; लेखनेऽपि प्राविष्टं भवेदिति मे मतिः, किमधिकम् । यदि
छात्रः इमां प्रश्नोत्तरीं कण्ठस्थां कुर्यात् ; मन्येऽहं सः प्रथमश्रेष्यामुत्तीर्णो भवेदिति ।
अत्र संज्ञाप्रकरणादारभ्य कृदन्तान्ताः सर्वाः फक्तिकाः व्याख्याताः सन्ति । केवल-
मनेनैकेनैव ग्रन्थेन फक्तिकासु छात्राणां सम्यगुपकारो भवेदिति ग्रन्थावलोकनत एवा-
नुभवो भवेदिति तत्र किमधिकं लेखनेन । अस्मिन् सङ्कलने श्रीमान् प्रकाशक-
महोदयः श्रेष्ठी गोलोकवासि-हरिदासगुप्तात्मज-जयकुण्डासो मामतीव प्रोत्साहित-
वान् । श्रेष्ठिन् आप्रहवशंवदेन छात्रहितैषिणा मया यथाशेषुषि प्रश्नोत्तरी सङ्क-
लिता, तत्र यदि ऋगप्रमादेन काश्चन त्रुट्यः स्युः, ता द्वितीयसंस्करणे निरस्ता
भविष्यन्तीत्यलम् ।

विदुषामनुचरः—

सदाशिवशास्त्री जोशी
व्याकरणाचार्यः, साहित्योपाध्यायश्च ।

प्रकरणानां सूची—

| क्र०अं० प्र० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० प्र० नाम | पृ०अं० |
|-----------------------------|--------|-------------------------|--------|
| १ सञ्ज्ञाप्रकरणम् । | १ | २५ प्रागिवीया: | ८७ |
| २ परिभाषाप्रकरणम् | ६ | २६ तद्राजाः | ८८ |
| ३ अच्छन्धिप्रकरणम् | ७ | २७ द्विरक्तप्रक्रिया | ८८ |
| ४ प्रकृतिभावः | ८ | २८ भवादिप्रकरणम् | ८९ |
| ५ हल्सन्धिप्रकरणम् | १६ | २९ अदादयः | १०२ |
| ६ विसर्गसन्धिप्रकरणम् | १८ | ३० जहोत्यादयः | १०६ |
| ७ स्वादिसन्धिप्रकरणम् | १९ | ३१ दिवादयः | १०६ |
| ८ अजन्तवुलिङ्गप्रकरणम् | २० | ३२ तुदादयः | १०७ |
| ९ अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् | ३२ | ३३ तनादयः | १०७ |
| १० अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् | ३६ | ३४ क्रायादयः | १०८ |
| ११ हलन्तवुलिङ्गप्रकरणम् | ३९ | ३५ चुरादयः | १०९ |
| १२ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् | ४१ | ३६ प्यन्तप्रक्रिया | ११२ |
| १३ स्त्रीप्रत्ययाः | ५२ | ३७ सन्नन्तप्रक्रिया | ११६ |
| १४ विभक्त्यर्थाः | ६१ | ३८ यहलुगन्तप्रक्रिया | ११७ |
| १५ अव्ययीभावसमाप्तः | ७० | ३९ नामधातुप्रक्रिया | ११९ |
| १६ तत्पुरुषसमाप्तः | ७२ | ४० कण्डवादयः | १२२ |
| १७ बहुव्रीहिसमाप्तः | ७८ | ४१ आत्मनेपदप्रक्रिया | १२२ |
| १८ सर्वसमाप्तशेषः | ८० | ४२ परस्मैपदप्रक्रिया | १२४ |
| १९ समाप्तशेषः | ८० | ४३ भावकर्मप्रक्रिया | १२४ |
| २० अपत्याधिकारः | ८३ | ४४ कर्मकर्तुप्रक्रिया | १२६ |
| २१ चातुरार्थिकम् | ८६ | ४५ लकारार्थप्रक्रिया | १२७ |
| २२ शेषाधिकारः | ८६ | ४६ कृदन्तकृत्यप्रक्रिया | १२८ |
| २३ ठगाधिकारः | ८६ | ४७ कृदन्तप्रकरणम् | १२९ |
| २४ प्रागिवीयाः | ८७ | ४८ उत्तरकृदन्तप्रकरणम् | १३१ |

इति प्रकरणानां सूचो ।

फक्तिकानां सूची ।

| क्र०अं० फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० फ० नाम | पृ०अं० |
|----------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| १ मुनिन्नयं नमस्कृत्य | १ | ३ लण् सूत्रे अकारस्येत्सञ्जायां कि- | |
| २ परिभाष्यत्यस्य विवायेत्यस्यायं | | ४ मानम् | १ |
| प्रमाणम् | १ | ४ अन्योन्याभ्यपरिहारः | २ |

| पृ०अं० फ० नाम | पृ०अं० क्र०अं० फ० नाम | पृ०अं० |
|--|---|--------|
| ६ प्रत्याहारेष्वित्सञ्ज्ञकानां नग्धणम् २ | ३५ मय उनो वो वा हृत्यन् वो गढणं | पृ०अं० |
| ६ वर्णसमान्नायस्थानामेव सवर्णंस- | किमर्थम् | १४ |
| ञ्जानिषेधाद्० | ३६ इदूतौ च सपुम्यथे हृत्यन् अर्थ- | |
| ७ अण् पूर्वंकारेण परणकारेण वा | ग्धणं किमर्थम् | १४ |
| ८ येन विधिस्तदन्तस्थ्य० | ३७ टोः किम् ? सर्पिष्टमम् | १९ |
| ९ नवेति विभाषा | ३८ चतुर्मुखः | १६ |
| १० प्रत्ययप्रदणे तदन्ता ग्राह्याः | ३९ कुद्रमन्तः | १६ |
| ११ यत्रानेकविधमान्तर्यम् | ४० मोऽनुस्वारः | १६ |
| १२ अष्टाम्य औश् हृत्यादेः | ४१ कुर्वन्ति हृत्यन् | १६ |
| १३ परनित्यान्तरङ्गापवादानाम् | ४२ पूरुणाम् | १७ |
| १४ सुध्युपास्य हृत्यन् स्थानिवग्रावः | ४३ कुप्पोः॥कूपौ च हति | १० |
| १५ वा हृतजगधयोः | ४४ विसर्जनीयस्य स हृत्यस्यैव वा- | |
| १६ हलो यमां यमि लोपः | धकम् | १० |
| १७ वान्त हृत्यन् वकाराद्वैर्यूतावित्यन् | ४५ चेष्ठिद्यते हृत्यन् दीर्घस्यैवायं तुक् | |
| छकाराद्वा | न छस्य | १८ |
| १८ धातोस्तस्त्रिमित्यैव | ५६ मातुकृपा हृत्यन् न षत्वम् | १८ |
| १९ धातोस्तस्त्रिमित्यैव | ५७ कृत्वोदये किम् ? चतुष्कपालः | १८ |
| २० कानि सन्ति कौ स्तः | ५८ सर्पिष्टकुण्डिका | १९ |
| २१ पुरस्तादपवादेन | ५९ अप्लुतादिति किम् | १९ |
| २२ उठग्रहणेन कान्तमेव गृह्णते | ६० अशि किम् ? देवाः सन्ति | १९ |
| २३ 'प्रार्च्छेति' हृत्यन् अन्तवद्वावेन | ६१ परे किम् ? तन्नयुतम् | २० |
| पदान्तत्वमादाय | ६२ समासग्रहणं नियमार्थम् | २० |
| २४ उपसगेणैव धातोराक्षेपे सिद्धे | ६३ द्याप्ग्रहणं किमर्थम् | २१ |
| २५ उपेष्टकीयति प्रोघीयति | ६४ अतो गुणे हति हि अकः सवर्णे | |
| २६ अविकिम् ? कुमारी शेते | ६५ हृत्यस्यैव वाधकम् । | २२ |
| २७ अतीति निवृत्तम् | ६६ सम्बुद्धाक्षिप्तस्याङ्गस्य एष्टुस्वा- | |
| २८ व्यवस्थितविभाषया गवाक्षः | भ्यां विशेषणान्नेह कतरत्वकुलेति२ | |
| २९ प्लुतप्रगृह्या अविनित्यम् | ६७ पृथग्रहणं किमर्थम् ? | २३ |
| ३० हकोऽसवणे शाकलयस्य हृत्यन् | ६८ विधिरिति किम् ? ची हयती | २३ |
| ३१ अप्लुतवदुपस्थिते | ६९ प्रत्यये किम् ? | २३ |
| ३२ मणीवोद्गृह्येति | ७० 'रामाय' हृत्यन् सञ्जिपातपरिष्ठ | २४ |
| ३३ रामकृष्णावम् आसाते | ७१ बहुवचने किम् ? रामः, रामस्य | २४ |
| ३४ अदसोमात् | ७२ शलि किम् ? रामाणाम् | २४ |

| क्र०खं० फ० नाम | पू०खं० | क्र०खं० फ० नाम | पू०खं० |
|--|--------|---------------------------------------|--------|
| ६२ 'रामाणाम्' इत्यत्र "नामि" हति | | ८२ 'ओतो णित्' अत्र विहितविशेषणं | |
| आरभमसामर्थ्यात्परिभाषा॑ | | किमर्थम् ? | ३२ |
| बाधते | २४ | ८३ 'हे रमे' अस्य सिद्धिः | ३२ |
| ६३ तदन्तस्यापीयं सञ्ज्ञा | २६ | ८४ 'सर्वासाम्' अत्र सुहागमः कथम् ६३ | |
| ६४ न च अर्वणक्षासावनः | २६ | ८५ 'असंयुक्ता ये डलका' हति वार्ति- | |
| ६६ उभशब्दस्य पाठस्तु उभकावित्य- | | कस्य अपूर्वतानिरासः | ३३ |
| कजर्यः | २७ | ८६ जरसादेशे 'औह आपः' हति फ- | |
| ६६ डतरडतमौ प्रत्ययौ | २६ | किकाया उपादनम् | ३३ |
| ६७ स्वामिधेयापेक्षावधिर्नियमो व्य- | | ८० 'प्रियत्रि कुलम्' अत्र तिष्ठादेश- | |
| वस्या | २६ | निरासः | ३४ |
| ६८ न बहुवीहौ | २७ | ८८ 'अस्त्रीति तु' हति फक्षिकाया | |
| ६९ सञ्ज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वा- | | आशयः | ३६ |
| दयः | २७ | ८९ कैयत्वृत्तिकारादीनां नित्यखीत्वे | |
| ७० द्वन्द्वे च | २८ | मतभेदः, तेषाम्यते 'प्रधी' श- | |
| ७१ जरसादेशविषये वृत्तिकारादीनां | | डदस्य रूपनिरूपणम् | ३७ |
| मतम् | २८ | ९० 'एकाजुत्तर' इत्यत्र णकारप्रहणस्य | |
| ७२ 'यूष्णः' इत्यत्र कया रीत्या णत्वम् २९ | | फलम् | ३८ |
| ७३ 'पद्मोमास' इत्यत्र किमर्थं प्रभृ- | | ९१ 'अमि लुकोऽपवादम्' हति फ- | |
| तिग्रहणम् ? | २९ | किकायाः स्पष्टोऽर्थः | ३६ |
| ७४ क्ष्वः, इनः, इत्यत्र आकारलोपो- | | ९२ 'हस्त्वो नपुंसके' इत्यत्र प्रातिप- | |
| पपत्तिः | २९ | दिक्ग्रहणस्य फलम् | ३६ |
| ७५ 'शेषो ड्यसखिं' अत्र 'यू' हति | | ९३ "श्रीपाय" अत्र आकारलोप- | |
| अनुवर्तनस्य फलम् | ३० | वारणम् | ३७ |
| ७६ 'हल्ड्याभ्यो' हति सूत्रे प्रथमह- | | ९४ 'हे वारे हे वारि' अत्र 'नलुमता' | |
| लग्रहणं किमर्थम् | ३० | इत्यस्यानित्यत्वम् । | ३७ |
| ७७ 'सुसखि' शब्दस्य घिसञ्ज्ञाविचारः ३० | | ९५ 'नृतीयादिषु' अत्र भाषितपुंस्क- | |
| ७८ त्यदादिगणस्य द्विपर्यन्तत्वास्त्वी- | | स्यार्थः | ३८ |
| कारे को दोषः | ३१ | ९६ 'प्ररिशब्दस्य आमि मतभेदसहितं | |
| ७९ दुर्धिया वृश्चिकभिया इत्यत्र कर्यं | | स्वरूपनिरूपणम् | ३८ |
| हृयङ् | ३१ | ९७ 'दादेधातोर्वः अत्र उपदेशप्रदस्य | |
| ८० नपत्रादीनां कर्यं नियमार्थस्वं कर्यं | | कर्थं लाभः | ३९ |
| च उद्गातृशब्दस्य दीर्घत्वम् ११ | | ९८ 'पुकाचो बशो, हति सूत्रस्यार्थः | |
| ८१ 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इत्यस्य आश- | | | |
| योपपादनम् | ३२ | | |

| क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० |
|---------|----------------------------------|--------|---------|-----------------------------------|--------|
| | पदस्याऽन्वयनिरूपणम् | ३९ | ११० | 'उगिदचाम्' अत्र अज्पदस्य अ- | |
| ११ | 'अनङ्गान्' अत्र तुमाऽम् कथं | | | धातोरित्यस्य च कि फलम् | ४८ |
| | न बाध्यते । | ३९ | ११८ | 'सेदुषः' हति रूपसिद्धिः | ४९ |
| १०० | 'ण्टवं द्वित्वं' 'चतुर्णाम्' | ४० | ११९ | 'औत्वप्रतिषेधः साकच्' हत्या- | |
| | 'किमः कः' हति गुरुन्यासनिरू- | | | देराशयः | ४९ |
| | पणस्य फलम् | ४० | १२० | 'विमलदिवि' अत्र उत्त्वप्राप्ति- | |
| १०२ | 'राजः' हत्यत्र कथा रीत्या | | | निरासः | ४९ |
| | इत्तुत्वम् | ४० | १२१ | 'अहः' अहोभ्याम्, अत्र कथा | |
| १०३ | 'प्रतिदीनः' अत्र स्थानिवद्धाव- | | | रीत्या प्राप्तनलोपवारणम् | ५० |
| | निरासः | ४१ | १२२ | 'दीर्घाहा' अत्र 'अहन्' हति रूत्व- | |
| १०४ | 'द्विग्रन्थः' अत्र णत्ववारणम् | ४२ | | सिद्धिः | ५० |
| १०५ | 'मध्यवान्' अत्र कथा रीत्या न- | | १२३ | 'असृजः पदान्ते कुत्वम्' हत्यादि- | |
| | लोपवारणम् | ४२ | | फक्षिकाव्याख्यानम्' | ५१ |
| १०६ | 'अष्टौ' हत्यस्य सिद्धिः | ४३ | १२४ | 'वेभिदि' अत्र कुतो तुमभावः | ५२ |
| १०७ | 'प्रियाष्टनः' अत्र कथा रीत्या | | १२५ | 'स्वामिप' अत्र तुम्दीर्घयोः केन | |
| | छट्वाऽभावः | ४४ | | भावयम् | ५२ |
| १०८ | 'त्वं अम्' 'अह अम्' अत्र | | १२६ | 'अजादिभिः श्रीत्वस्य विशेष- | |
| | स्त्रीत्वे टाप् कथं न | ४४ | | णात्' हत्यादि फक्षिकाया | |
| १०९ | 'मप्यन्तत्वः' हति अधिकारस्य | | | अथेः । | ५२ |
| | साथंक्यम् | ४५ | १२७ | 'शुद्राचामहत्पूर्वाजातिः' अस्य | |
| ११० | 'यूथम्' 'वयम्' अत्र कथं इयोदे- | | | युक्तार्थत्वम् | ५३ |
| | शनिवारणम् | ४६ | १२८ | 'उगिदचामिति सूत्रे' हति फक्षि- | |
| १११ | 'भ्यसो भ्यम्' अत्र भ्यमभ्यमयोः | | | कायाः स्पष्टाशयः | ५३ |
| | को युक्ततरः | ४६ | १२९ | 'अतिसुत्वरी' अत्र छीबत्वयोः | |
| ११२ | 'आविनः सुटो' हत्यादि फक्षिक- | | | सिद्धिः | ५४ |
| | कायाः स्पष्टायोः | ४६ | १३० | 'टाबृचि' अस्य नव्यप्राचीनयो- | |
| ११३ | 'युवावौ द्विवचने' 'त्वमावेकवच- | | | मंतेनाथेनिर्णयः | ५४ |
| | ने' अत्र द्विवचनैकवचनयोः प्र- | | १३१ | 'पञ्च, चतुर्चः' अत्र कथं छीब- | |
| | त्वयपरत्वनिरासः | ४७ | | भावः | ५४ |
| ११४ | 'प्रतीचः' अत्र यण्प्राप्तिनिरासः | ४७ | १३२ | 'प्रत्ययस्यात्' अत्र पूर्वस्येति- | |
| ११५ | 'अदसोद्देवः' हति कारिकाया | | | पदग्रहणस्य फलम् | ५६ |
| | विवरणम् | ४८ | १३३ | 'भस्त्रैवाजाज्ञा' हति सुत्रस्य | |
| ११६ | 'अयस्कारः' अत्र 'अतःकृकमिति | | | व्याख्यानम् | ५६ |
| | सकारः कथा रीत्या भवति | ४८ | | | ५६ |

| क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० |
|---------|---------------------------------------|--------------------|---------|---------------------------------------|-----------------------------------|
| १३४ | 'बहुवीहेर्भाषितपृस्कत्वात्' | | १११ | 'अकथितङ्ग' इति सूत्रस्य | |
| | इति फक्तिकाया व्याख्यानम् ५६ | | | व्याख्यानम् | ६२ |
| १३५ | 'अनुपसर्जनाद्' एतदधिकार- | | ११२ | सञ्ज्ञाया अर्थनिवन्धने प्रमा- | |
| | फलम् | ५६ | | णनिहेणम् | ६४ |
| १३६ | 'वक्ष्यमाणा' अत्र कर्त्त छीव- | | ११३ | 'गतिबुद्धि' सूत्रस्य सोदाहरणार्थः ६४ | |
| | भावः | ५७ | | ११४ | 'गतिबुद्धि' सूत्रस्य विष्यर्थत्वं |
| १३७ | 'ताच्छीलिकेऽणेऽपि' | अस्य | | नियमार्थत्वं वा | ६४ |
| | व्याख्यानम् | ५८ | ११५ | 'अकर्मकाणां' कौमुदीकाररोत्या | |
| १३८ | 'अनुपसर्जनस्य' इति हहोत्तरा- | | | व्याख्यानम् | ६५ |
| | र्थमपीति फक्तिकाविवरणम् ६८ | | ११६ | पापेऽभिनिवेशः अत्र कर्मत्वं | |
| १३९ | 'अथ वृषलस्य पत्नी' हत्यादि- | | | कर्त्त न | ६६ |
| | फक्तिकार्थः । | ६८ | ११७ | 'अनुलक्षणे' इति 'हेतोः' इति | |
| १४० | 'गजवाची नागशब्द' | हत्यादिफ- | | च सम्मार्थः | ६६ |
| | किकाया आशयः | ६९ | ११८ | 'सपिष्ठोऽपि स्वादस्य विवरणम् ६६ | |
| १४१ | 'बोतो गुणवच्चनात्' | अत्र किम- | ११९ | 'साधकतमं करणमन्त्र तमङ्ग्रहण- | |
| | थंसुद्ग्रहणम् | ६९ | | स्य फलम् । | ६७ |
| १४२ | 'ब्रह्माणी' | इति क्या रीत्या | १२० | 'अनुर्लक्षणे, हेतौ, स्पृहरीप्सितः, | |
| | सिद्ध्यति | ६९ | | हत्यादीनां व्याख्यानम् | ६७ |
| १४३ | 'स्वाङ्गाङ्गोप' | हत्यादौ स्वांगप- | १२१ | 'अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः' | |
| | देन कस्य ग्रहणं स्वाङ्गत्वं च किम् ११ | | | अस्या व्याख्यानम् | ६८ |
| १४४ | 'जातेरस्त्री' | अत्र जातिपदेन कस्य | १२२ | 'वने उपवसति, नदीमन्ववसिता से- | |
| | ग्रहणं किं तत्फलं च | ६० | | ना, आमुकते संसारः, शतस्य दी- | |
| १४५ | 'नुनरयोर्वृद्धिश्च' | अत्र नरपदग्रह- | | व्यति एषां विभक्तिनिरूपणुरुः | |
| | णस्य फलम् | ६१ | | सरं 'सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये' | |
| १४६ | प्रातिपदिकस्य अर्थनिरूपणं, लिंग- | | | हति सूत्रव्याख्यानम् | ६८ |
| | ग्रहणफलं च । | ६१ | १२३ | षहिर्योगे पञ्चमी अस्य प्रमाणप्रति- | |
| १४७ | 'द्वेषो वीहि' | अस्योपपत्तिः ६१ | | पादनपूर्वकं 'कर्तृकर्मणोः कृति' अत्र- | |
| १४८ | 'पूकः' द्वौ' | हत्यादौ प्रातिपदि- | | स्थक्तिपदस्य प्रयोजननिर्णयः ६१ | |
| | कार्थमात्रे प्रथमा कर्त्त न | ६२ | १२४ | 'अधीति व्याकरणे' अत्र केन | |
| १४९ | "कर्तुरीप्सिततम्" | अत्र कर्तुरिति | | सूत्रेण सप्तमी | ७० |
| | किम् ? | ६२ | १२५ | भूतपूर्वः अत्र भूतपदपूर्वनिपातोप- | |
| १५० | 'कर्तुरीप्सिततम्' | अत्र तमङ्ग्रहणं | | पत्तिपूर्वकम् 'अधिहरि' इति | |
| | किमर्थम् | ६३ | | प्रयोगसिद्धिः | ७० |
| | | | १२६ | 'अधिगोपम्, अस्य' सिद्धिः, वि- | |

| क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० |
|---------|---|--------|---------|---|--------|
| | भाषाभिकारनिर्णयश्च | ७१ | १८१ | 'आन्महत' अत्र लक्षणवित्तिपदोक्त- परिभाषा प्राप्तिविचारः । | ७७ |
| १६७ | 'आयतीगवम्' परोक्षम्, यतयोः साधनम् | ७१ | १८२ | 'अष्टागवम्' अत्र कथं युक्तार्थ- लाभः । | ७७ |
| १६८ | 'द्विगुण' इत्यस्य वैयर्थ्यनिरूपणम् द्विगोस्तत्तुवृत्तवे फलम् | ७१ | १८३ | 'चित्राजरद्गुण' अत्र कस्य पुंवद्धावः | ७८ |
| १६९ | 'स्वयम्' अस्य कान्तेन समासनि- र्णयः, द्वितीयाविभक्तिनिर्ण- यश्च | ७२ | १८४ | 'पुंवद्धावप्रतिषेधोऽप्त्रित्यश्च इत्या- देविवरणम् । | ७८ |
| १७० | 'चतुर्थी तदर्थार्थ' अत्र तदर्थेन किं गृहाते, अश्वघासादीनां समा- सविचारः । | ७३ | १८५ | सप्ततीशब्ददस्य सभेदं निरूप- णम् । | ७९ |
| १७१ | प्रतिपदविधानषट्ठीविचारः 'न निर्वारणे' अस्य वैयर्थ्यस्वविचा- रश्च । | ७३ | १८६ | 'ओरुणः' अत्र 'ओरोत्' इति न्यासे सम्यक्स्तविचारः | ७९ |
| १७२ | 'पूरणगुण' अत्रत्यगुणवाचकेन स- मासनिषेधविचारः । | ७४ | १८७ | 'विनसाहतवान्धवा' इति शंका- निरसनम् । | ७९ |
| १७३ | 'भूमती' 'विशुबनविधातुः' अत्र 'तज्जकाम्याम्' इति कथं न निषेधः | ७४ | १८८ | 'सुपां सुपा तिळा नाम्ना' इति कारिकाड्याख्यानम् | ८० |
| १७४ | 'तक्षकस्य सर्पस्येति फक्तिका- व्याख्यानम् | ७४ | १८९ | 'हुलेखः' साधनपुरस्त्वरं 'डत्तराधि- कारे परिभाषाज्ञापनप्रकारः | ८० |
| १७५ | 'मध्यान्हः' 'सायान्ह इति एकदे- शिसमासनिरूपणम् । | ७५ | १९० | 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' अस्य व्या- ख्यानम् | ८१ |
| १७६ | 'प्राप्तजीविका' अर्थं समासः केन तदुपतिश्च | ७५ | १९१ | 'गर्गभगिनी' अत्र णत्वविचारः | ८२ |
| १७७ | 'युवस्तलती, युवजरती' इति समा- ससिद्धिः | ७५ | १९२ | 'माषकुम्भवापेन' 'चतुरझयोगेनः' अत्र णत्ववारणविचारः । | ८२ |
| १७८ | सप्रमाणं लिङ्गविष्टपरिभाषाविवर- णम् | ७६ | १९३ | 'आदिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धी वाधते' अस्य विचारः । | ८३ |
| १७९ | 'सप्रमाणं' 'गतिकारकोप' इति प- रिभाषायाः स्पष्टीकरणम् | ७६ | १९४ | 'तस्येदमित्यपत्येऽपि' इत्यस्य कारिकाया व्याख्यानम् | ८३ |
| १८० | 'दीर्घान्ती, अत्र कथं नत्वाभावः' | ७६ | १९५ | कृतसन्ध्येः किम् सौमित्रिः इति फक्तिकाप्रतिपादनम् । | ८४ |

| क्र०अं० फ० नाम | पू०अं० फ० नाम | पू०अं० | |
|--|---------------|--|----|
| १९८ 'वामदेवाहृष्टयै' अत्र दितः प्रयोज- नविचारः । | ४६ | २१५ 'प्रत्यये किम् ववश्च' इति फक्तिक- काथ्याकथानम् | १२ |
| १९९ 'शेषः' हृत्यस्य लक्षणं अधिकार- त्वनिर्णयश्च | ४६ | २१६ 'मामो मकारस्य नस्त्वम्' कृष्ण- ग्रहणसामश्यांत् अन्यत्वाऽपि | |
| २०० "आकर्षात्परादेः" इति कारिकाः- व्याख्यानम् । | ४६ | प्रयोगः | १२ |
| २०१ प्रादिशीयानां विभक्तिसंज्ञाफल- विचारः | ४७ | २१७ 'हन्दांचकार अत्र तडामाववि- चारः | १३ |
| २०२ 'चतुर्थादनजादौ' इति कारिकाकथा- रुयानम् | ४७ | २१८ 'एकाच उपदेशे' अत्रेकाजप्रहृणप्र- योजनम् | १४ |
| २०३ 'काकतालीयः हृत्यस्य सिद्धिः' | ४८ | २१९ 'मादेशादेहवैरूप्य' हृत्यादिफक्तिक- काया व्याख्यानम् । | १४ |
| २०४ "कर्मधारयवदुत्तरेषु" इति सूत्रा- भिप्रायः | ४८ | २२० षोपदेशकारिकाया व्याख्यानम् १४ | |
| २०५ "एकं बहुवीहिवत्" हृत्यस्य व्या- ख्यानम् | ४८ | २२१ 'तस्मान्तुहृद्विष्ठः' अत्राऽनेकहल्त- पलक्षणविचारः । | १५ |
| २०६ बहुलग्रहणविचारः | ४९ | २२२ 'उबोल' अत्र अमोऽभावाः, 'ऊङ्ग- तुरिति सिद्धिक्षिच | १६ |
| २०७ 'दलदूये टाबभावः' इति कारिका- विवरणम् | ४९ | २२३ 'विव्यतुः' हृत्यस्य साधनम् १६ | |
| २०८ 'आट आटुः' एतयोः दोषनिवा- रणपूर्वकं 'हलादिः शेषः' हृत्यस्य व्याख्या | ५१ | २२४ क्रादीनां चतुर्णां नियमार्थस्वोपषा- दनम्, नियमस्वरूपं च | १६ |
| २०९ 'येन नाथ्यवधानम्' हृत्यस्याऽभि- प्रायः । | ५० | २२५ 'संज्ञायाः कार्यकालत्वात्' हृत्यस्य व्याख्यानम् | १७ |
| २१० "भवतात्" हृत्यश्च छिच्छेत्यस्य कथ- मुत्सर्गेण वाधः | ५० | २२६ 'कथमुदयति' हृत्यस्य विवरणसि- द्धिः | १८ |
| २११ 'छित्वोक्तेः' हृत्यादिदीक्षिताभि- प्रायविचारः | ५१ | २२७ 'अव्यायि तरुहस्तोऽसौ' अत्र असौ हृत्यस्यान्वयोपपतिः, | १८ |
| २१२ 'यासुटो' छित्वणस्य प्रयोज- नम् | ५१ | २२८ 'घस्त्व—अदने' धातोः प्रयोगविचारः | १८ |
| २१३ 'अतो येयः' अत्र 'सार्वधातुके' हृत्य- नुवृत्तेः फलम् | ५२ | २२९ हृत्यन्दू—प्रस्त्रवणे धातोर्लंटि प्रथ- मैकवचनरूपस्य सिद्धिः | १९ |
| २१४ 'भवेयुः' अत्र 'उस्यपदान्तात्' हृ- त्यस्य प्राप्तिवारणम् । | ५२ | २३० मत्स्योदके अनुष्यन्देते अत्र षष्ठ- विचारः | १९ |
| | | २३१ 'कमलवनोद्वाटनम्' हृत्यस्य सिद्धिः | १९ |

| क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० |
|---------|-------------------------------------|--------|---------|--------------------------------------|--------|
| २३२ | 'विव्यथे' हति रूपसिद्धिः | १०० | २१२ | 'विव्यव' अन्न संप्रसारण- | |
| २३३ | 'विज्ञापना' 'तज्ज्ञापयति' अन्न 'मि- | | | विचारः । | १०७ |
| | तां हस्तः' हति हस्तः कथं न १०० | | | | |
| २३४ | 'न कस्यमिचमास्' हत्यतो वकारो- | | २१३ | 'शेतुम्फादीनाम्' हत्यस्य विवेच- | १०७ |
| | त्तरानुचितविचारः | १०१ | | नम् । | |
| २३५ | आज्ञातोहमयत्रापाठविनिमयः १०१ | | २१४ | 'ममडक्य' हति रूपस्य सिद्धिः ०७ | |
| २३६ | 'सत्सरिव' अन्न हडागम- | | २१५ | 'सञ्चक्षकरुः अस्य सिद्धिः, थलि ह- | |
| | विचारः | १०१ | | डागमविचारश्च | १०७ |
| २३७ | 'प्रणिमयते' अन्न कया शीत्या | | २१६ | 'संस्कियात्' हत्यस्य सिद्धिः १०८ | |
| | णत्यम् | १०१ | २१७ | 'अबान्धाम्' हत्यस्य सिद्धिः १०८ | |
| २३८ | परिष्कणणः अन्नरस्थणत्वविचारः | | २१८ | 'एषिता' हत्यस्य सिद्धिः १०८ | |
| | चारः | १०२ | २१९ | 'णिच' पक्षिकत्वविचारः विशेषसा- | |
| २३९ | 'विव्याय' अन्न प्राप्तवकारसंप्रसा- | | | मन्यापेक्षयोविचारश्च | १०९ |
| | रणविचारः । | १०२ | २६० | चुरादौ 'प्' हति दीर्घोच्चारण फ- | |
| २४० | 'जक्षतुः' अन्न स्थानिवत्वनिरा- | | | लम् | १०९ |
| | सः | १०२ | २६१ | 'अचाकृतत्' हत्यस्य सिद्धिः ११० | |
| २४१ | 'जहि' अन्न हेलोपविचारः | १०३ | २६२ | 'ओः पुण्यञ्ज्यपरे' अन्न वर्गप्रत्या- | |
| २४२ | 'चखिलः' भात्मनेपदविचारः | १०३ | | हारजप्रहो लिङ्गम् अस्यां विश- | |
| २४३ | 'अन्नभाष्ये ख्लादिरथमादेशः' हत्य- | | | दार्थः | ११० |
| | स्य व्याख्यानम् | १०३ | २६३ | 'औननत्' हत्यस्य सिद्धिः १११ | |
| २४४ | 'युथात्' अन्न वृद्धिः कुतो न | १०३ | २६४ | 'आरुयानात्कृतः' हत्यादेरर्थनिरूप- | |
| २४५ | 'अभीयात्' अन्न प्राप्तहस्तव्यवि- | | | णम् | |
| | चारः । | १०४ | २६५ | 'कंसमजीघतत्' हत्यस्य सिद्धिः ११२ | |
| २४६ | अध्यये हत्यस्य साधनम् | १०४ | २६६ | 'न चागलोपित्वादितिफक्किका- | |
| २४७ | 'अयं सार्वधातुकमात्रविषयः' अ- | | | ठयारुल्यानम् | ११२ |
| | स्याऽस्ययः । | १०४ | २६७ | 'बहिरङ्गोऽप्युपधाहस्तः' हत्यादे- | |
| २४८ | दरिद्राधातोः प्रथमस्थैकवचने रु- | | | र्विमर्शः ता० | ११२ |
| | पाणि | १०५ | २६८ | 'औन्निजज्ञत्' हत्यस्य सिद्धिः ११३ | |
| २४९ | 'ऐया' धत्तः हत्यनयोः प्रसाधा- | | २६९ | कथं तर्हि विस्मापयन् विस्मि- | |
| | नम् | १०५ | | तमात्मवृत्तौ | ११३ |
| २५० | 'अदिलक्ष्मत्' हत्यस्य सिद्धिः | १०६ | २७० | 'अध्यजीगणत्' हत्यस्य सिद्धिः ११४ | |
| २५१ | दिवादौ 'अभिमदा' धातोः पाठ- | | २७१ | 'ऐषिष्यद्' हति रूपसिद्धिः ११४ | |
| | विचारः । | १०६ | २७२ | निवृत्तप्रेषणाद्वातोहेतुमणौ शु- | |
| | | | | दूधेन हुल्योऽर्थः । | ११४ |

| क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० |
|---------|------------------------------------|--------|--|--------|--------|
| २७३ | 'एविविष्टि' हृत्यस्य सिद्धिः ११९ | २९० | 'णेरणौ यत्कर्म औ चेत्स कर्ता- | | |
| २७४ | धिष्पसति ऊर्णनविष्टि' हृत्यस्य | | नाध्याने अस्य व्याख्यानम् १२३ | | |
| | शङ्कानिरासपूर्वकं साधनम् । ११९ | | २९१ 'अनुपराम्यां कृषः' हृति सूत्रे | | |
| २७५ | 'अरिरिष्टि' अस्य सिद्धिः । ११६ | | कर्तरीत्येव भावकर्मणोर्मभूत ११४ | | |
| २७६ | 'उविच्छिष्टिः'हृत्यस्य सिद्धिः ११६ | | २९२ प्रकृतो मितां हृस्व एव तु न | | |
| २७७ | 'शैषिकान्मतुबर्थीया' अस्य | | विकल्पितः' १२४ | | |
| | व्याख्या ११७ | | २९३ द्विकर्मकेषु सोदाहरणं कर्मप्रत्य- | | |
| २७८ | यज्ञलुगन्तात् आत्मनेपदं कथम् ११७ | | यविचारः १२५ | | |
| २७९ | यज्ञलुका भाषायां मानम् ११७ | | २९४ कर्मवत्कर्मणा तुलयकियः अस्य | | |
| २८० | यकारवकारान्तानामूठभाविनाम् | | व्याख्या १२६ | | |
| | अस्य व्याख्या ११७ | | २९५ 'तपस्तपः कर्मकस्यैव' हृत्यस्य | | |
| २८१ | ऋधातोर्यज्ञलुकि' आशीर्लिङ्गि | | व्याख्या १२६ | | |
| | प्रथमपुरुषैवचने रूपसिद्धिः ११८ | | २९६ 'याहि याहीति याति' हृति | | |
| २८२ | 'अवगलभाङ्गक' अस्य साधनम् ११९ | | विशेषशास्त्रकार्यप्रदर्शनेन सा- | | |
| २८३ | 'अवगालिभष्ट' हृतिरूपं साध- | | धनम् १२७ | | |
| | नौयम् ११९ | | २९७ 'अचो यत्' हृति सूत्रे कर्तुमशा- | | |
| २८४ | 'स्वमनायत' एतद्रूपं शङ्कानि- | | क्यं नवेति' प्रतिपादय १२७ | | |
| | रासपूर्वकं प्रसाधनम् उपसर्ग- | | २९८ 'इचेति हृस्वः सुपठः' हृत्यस्य, | | |
| | स्य पृथक्करणे सफलज्ञापकप्र- | | भिप्रायः १२८ | | |
| | दर्शनम् ११९ | | २९९ 'भार्या वधूः' हृत्यत्र क्यप् भव- | | |
| २८५ | वृद्धौ सत्यां टिलोपः अत्र ज्ञाप- | | ति न वा १२८ | | |
| | कफलप्रदर्शनम् १२० | | ३०० 'न कादे:' हृति सूत्रस्य उपयो- | | |
| २८६ | 'त्वादयति' हृति रूपं प्रसाद्य | | गोऽस्ति नवेति प्रतिपादय १२८ | | |
| | 'प्रकृत्यैकाच्' हृति सूत्रस्य | | ३०१ 'प्रैषादि' सूत्रे कृत्यग्रहणं कर्त- | | |
| | फलम् १२० | | व्यं न वा १२९ | | |
| २८७ | 'आनन्माच्छे' हृत्यर्थं कानि | | ३०२ 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छीलये' | | |
| | रूपाणि १२१ | | हृति सूत्रे वृत्तिकारभाष्यका- | | |
| २८८ | कण्डवादीनां धातुत्वप्रातिपदि- | | रयोः को मतभेदः १२९ | | |
| | कत्वोभयस्वीकारे पलं प्रभा- | | ३०३ 'निष्ठायां सेडः' हृत्यत्र सेद्यग्रह- | | |
| | णञ्च १२२ | | णस्य फलम् १२९ | | |
| २८९ | आहध्वं मा रघुत्तममिति प्रयो- | | ३०४ 'सानुमतः प्रफुल्म्' अत्रस्थदो- | | |
| | गे शङ्कासमाधी १२२ | | पवारणम् १३० | | |

| क्र०अ० फ० नाम | पृ० अ० | क्र०अ० फ० नाम | पृ०अ० |
|---|--------|---|-------|
| ३०५ "धृषिशसी वैयात्ये" हृदं सूर्वं | ३११ | "कर्मणि च येन" इति सूत्रे कर्तु- | |
| विष्यर्थमुत नियमार्थम् १३० | १३२ | ग्रहणं किमर्थम् | |
| ३०६ विकुण्ठ उकार उच्चारणार्थः प्रयोजनार्थो वा १३१ | ३१२ | 'अतिसुलभम्, अतिदुर्लभम्, अत्र 'उपसर्गात्खल्भनोः'इति | |
| ३०७ 'विद्वत्तम्' अत्र 'दस्ति' इत्येनेन दीर्घः कथं नेत्यादि १३१ | ३१३ | तुम् कथं न | |
| ३०८ 'यायावरः' अस्य साधनम् १३१ | ३१४ | 'अदो जरिधर्वर्यपतिकिति'इति | |
| ३०९ अर्थग्रहणमस्तिनवं सम्बन्धते १३१ | ३१४ | सूत्रे ल्यब् ग्रहणं किमर्थम् | |
| ३१० 'निवासचिति' इति सूत्रे चः कः इत्येव वक्तव्ये अदिग्रहणं किमर्थम् १३२ | ३१४ | 'मूलकोपदंशमसुदृक्ते' अत्र साम- र्थ्याभावात् णमुलप्रत्ययः समाप्तश्च | |

इति श्रीवैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीस्थकक्षिकानां सूची ।

—४०—

परीक्षा तथा अन्य प्रकार की सभी संस्कृत पुस्तकों के
मिलने का एकमात्र प्राचीन स्थान—

जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस
विद्याविलास प्रेस, बनारस सिटी ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

फक्तिकाप्रश्नोत्तरी

शिवं सर्वविद्यानिधानं प्रणम्य
मुनीन् सूत्रकारादिकान् स्वान् गुरुञ्च ।
ब्रुवे व्याकृतेः फक्तिकाप्रश्नतत्त्वम् ,
परीक्षार्थिनां तोषहेतोर्निंगूढम् ॥ १ ॥

प्रश्नः—मुनिश्चयं नमस्कृत्येत्यत्र “नमःस्वस्तिस्वाहा” इति चतुर्थी कुतो न इति प्रदद्यथ “परिभावस्तिरक्तिया” इत्यमरात् परिभावयेत्यस्य विचार्येत्यस्यार्थं प्रमाणं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु मुनिश्चयं नमस्कृत्येत्यत्र स्वयम्भुवे नमस्कृत्येत्यत्रेवाप्नापि “नमःस्वस्तिस्वाहा”इत्यादिना चतुर्थी स्यात्, इति चेद्, न । उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्वलीयसी” इति परिभाषया “नमस्करोति देवान्” इतिवत् द्वितीयैव सु-युक्तत्वात् । न च स्वयम्भुवे नमस्कृत्येत्यत्र स्वर्थंभुवमनुकूलयितुमित्यर्थविवक्षाणां “क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः” इत्यादिना चतुर्थीं सिद्धा, एवं च “नमःस्वस्तिं”इति सूत्रे नमःपदं वर्यथेमितिशाच्यम् । ‘इत्येन नमः’ इत्यत्र सम्बन्धसामान्ये षष्ठ्यां प्राप्तायां तद्वाधनाय तत्त्वायकत्वात् ।

ननु “परिभावस्तिरक्तिया” इत्यमरकोशात्” सर्वत्र परिसमभिव्याहारे भूधातोरवज्ञानार्थस्यैव सम्भवात् त्र्यावत्याभाजेत्र “परौ भुवो अवज्ञाने” इत्यत्र अवज्ञानशृणु व्यर्थं सत् ज्ञापयति—“धातूनामर्नेकार्थत्वम्” इति । एवज्ञ भूधातोरवज्ञानातिरिक्तार्थस्यापि सम्भवात् ; “मनसा परिभावय किञ्चित्” इत्यादिशीहर्षप्रयोगाच्च, विचार्येत्यर्थेऽपि न किमपि बाधकमिति दिक् ।

प्रश्नः—लण् सूत्रेऽकारहयेत्सङ्घायां किं मानम् ? तस्य फलं च किम् ? इति दर्शय ।

उत्तरम्— क्रतुवर्णयोः सावण्यं प्रालकारीयतीत्यत्र बृद्धेः “उरण् रपरः” इति रपरत्ववारणपर “ल्परं वक्षयामि” इति भाष्यवाच्यानावसरे लग्नसूत्रव्याकरणे रप्रत्याहारमात्रित्य रशब्दस्य रेफलकारोभयक्षेत्रमिति कैयदः।

ननु सर्वत्र रप्रत्याहारेणैव निर्वाहे “अतो लरान्तस्य” इत्यत्र लकारोच्चारणं व्यर्थं मितिचेत्, न। तेन हि रप्रत्याहारत्वानित्यत्वज्ञापनात्। अत एव “रषाभ्याम्” “र-दाभ्याम्” इत्यादौ न लग्नहणम्। तेन कल्पेन, प्रकृतामित्यादौ न दोष इति प्राज्ञः।

नव्यास्तु— “ल्परं वक्षयामि” इत्यस्य उः स्थाने प्रयुज्यमानो योऽन् स रपरे भवति लपरश्च भवति इति व्याख्यानेन वक्षयामि इत्याहुः। अन्यथा “अतो लरान्तस्य” इति सूत्रे पाणिनिलंकारं नोच्चारयेत्। रप्रत्याहारेणैव निर्वाहात्।

प्रश्नः— “हृलन्त्यम्” “भादिरन्त्येन सहेता” अनयोः परस्परापेक्ष-त्वेन अन्योन्याश्रयः कथम्? परिहारश्च कीदृक् इति साधूपपादय।

उत्तरम्— वाक्यार्थज्ञाने दपदार्थज्ञानं कारणम् इति नियमात् “हृलन्त्यम्” इत्यत्र “अन्तो जघन्यं चरममन्त्यपाश्चात्यपश्चिमाः” इत्यमरकोशात् अन्त्यपदस्य बोधसत्त्वेऽपि हृल्पदस्य बोधः पाणिनिसङ्केतज्ञानाभावात् न सम्भवति; इति तज्ञानार्थं “आदिरन्त्येन सहेता” इति वाक्यार्थबोध आवश्यकः। “आदिरन्त्येन सहेता” इति वाक्यार्थबोधे इत्पञ्चज्ञानमपेक्षितम्, तच्च “हृलन्त्यम्” इति सूत्रार्थबोधमन्तरा न सम्भवति, हृलन्त्यसूत्रेऽपि इत्पदार्थज्ञाने हृल्पदार्थज्ञानमपेक्षितम्, तच्च “आदिरन्त्येन सहेता” इति वाक्यार्थबोधमन्तरा न सम्भवति, इति परस्परापेक्षत्वादन्योन्याश्रयः। अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्पन्ते, यथा “नौ-नांवि बद्धा नेतरश्च आणाय भवति” इति भाष्यात्। अतस्तदोषपरिहाराय “हृलन्त्यम्” इति सूत्रावृत्तिः किंयते “हृलन्त्यम्” “हृलन्त्यम्” इति। तत्र प्रथमहृलन्त्यमित्यस्य हृषिति सूत्रेऽन्त्यम् इत् भवतीति। इत्सञ्ज्ञाज्ञाने जायमाने “आविरन्त्येन सहेता” इत्यनेन हृल्पदबोधः सुकरः। हृल्पदबोधे जायमाने द्वितीयहृलन्त्यमित्यस्य वाक्यार्थबोधे कस्याद्यपेक्षाविरहात् नान्योन्याश्रयः। आवृत्तौ प्रमाणं हि “न विभक्तौ तु स्माः” इति सूत्रमेव। तदभावे हि इत्यमित्यस्य वाक्यार्थानि निष्पत्तौ “न विभक्तौ” इतिनिषेषो व्यर्थं एव स्वार्थिति दिक्।

प्रश्नः— अकू, अचू हृल् इत्यादिप्रत्याहारेषु इत्संहकानां प्रहणं

कुतो न भवतीति वद ।

उत्तरम्—ननु “लग्न” सूत्रस्थावणेन सहोचार्यमाणो रेको रलशोः संज्ञा हति न युक्तम्, टकारस्याऽपि मध्यपतितत्वादितिचेद् १ न । “अनुनासिक” हत्यादि-निर्देशेन “प्रत्याहारेऽस्ति न प्रहणम्” हति ज्ञापनात् । अन्यथा अनुनासिक हत्यन्त्र ककारस्याच्चप्रत्याहारामतःपातित्वाहच्चत्वमादाय यणापत्तिः स्थात् ।

न च हत्यविधानसामर्थ्यात् न यणः प्राप्तिरिति वाच्यम् । शास्त्रस्य साक्षाद्वाध-कल्पनापेक्षया प्रत्याहारेऽनुबन्धानामप्रहणमित्यत्रेवेत्वविधानस्य ज्ञापकत्वे लाभवा-त् । “पापाणके कुत्सितैः” “एङ्गः पदान्तादति” हति निर्देशा अप्यत्र ज्ञापकत्वे मानत्वाच्चेत्यत्म् ।

प्रश्नः—“नाज्ञालौ” हत्यनेत वर्णसमान्यायस्थानामेव सत्वर्णसं-ज्ञानिषेधात् विश्वपापिरित्यन्त्र “हो ढः” हति ढत्वं कुतो न ।

उत्तरम्—“पूर्वं वर्णानामुपदेशस्तावत्, उपदेशोत्तरकालेत्संज्ञा, हत्यसञ्ज्ञो-त्तरकाला प्रत्याहारसिद्धिः, तदुत्तरकाला सवर्णसंज्ञा, तदुत्तरं नाज्ञालाविति निषे-धः, तदुत्तरं ग्राहकता शक्तिः २ एतेन सवर्णेण समुदितेनान्यन्त्र सवर्णानां प्रहणं भवति, न स्वलिम्बापि स्वाङ्गे,” हति भाव्योक्तीत्या “तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णं” “नाज्ञालौ” हत्येताभ्यां प्राक् प्रहणकशास्त्रस्यासिद्धया “नाज्ञालौ” हत्यस्य वाक्यार्थेभो-धावसरे उपदेश वर्णसमान्यायस्थानां द्वस्वानामेव प्रहणात् । तेषामेव सवर्णसंज्ञा-निषेधेन दधिशब्दात् शीतलं षष्ठं सान्द्रमित्येतेषु परेषु यणादिकं न । दीर्घादीनां च हल्मिः सह सावर्ण्यमस्त्येव । अत एव ‘कुमारी शेते’ हत्यन्त्र सवर्णदीर्घवारणाय “अकः सवर्णे दीर्घः” हति सूत्रेऽविप्रहणानुवर्तने सफलम् । नन्वेवं विश्वपापिरि-त्यन्त्र हकारस्याकारसवर्णत्वात् “हो ढः” हति ढत्वं स्थादिति चेद्, न । “काल-समयबेलासु तुमुन्” हत्यादिनिर्देशेन नाज्ञालावित्यन्नाकारप्रश्लेषात्, आकारस्यापि हळः सावर्ण्यनिषेधादित्यलम् ।

प्रश्नः—“अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः” हत्यस्मिन् सूत्रे अण् हति पूर्वणकारेण परणकारेण वा प्रत्याहारा ग्राहा हति सप्रमाणं लिख ।

उत्तरम्—“अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः” हत्यस्मिन् सूत्रे अण् परेणैव णका-रेण गृष्णते “कृत उत्” हत्यन्त्र तपरकरणालिलङ्घात् । सथाहि—पूर्वणकारेणाण्प-त्याहाराङ्गीकारे ऋकारस्याण्पत्याभावात् “अणुदित्” सूत्रेण सवर्णग्राहकताऽप्र-

सकौ तद्यावृत्यर्थं तत्र कृतं तपरकरणं व्यर्थं सत् उक्तार्थं ज्ञापकम् । परणकारेण
ग्रहणे तु ऋकारस्याण्त्वेन प्राहकशास्त्रप्रवृत्या प्राससर्वणप्रहगव्यावृत्तये तपरकरणस्य
सार्थकम् ।

वस्तुतस्तु इदं प्रमाणं न सुनोरमम् । लूकारग्रहणेन चारितार्थात् । ५८८ च
“उर्मत्” इत्यप्रत्यतपरकरणस्योक्तार्थं ज्ञापकत्वं बोड्यम् । तथादि-चुरादिष्यन्तात्
“कृतधातोर्लुङि अचीकृतव , इत्यत्र दीर्घं ज्ञकारस्याने हस्तऋकार एव यथा स्या-
दित्येतदर्थं तत्र तपरकरणं क्रियते । अत्र पूर्वणकारेणाण्ग्रहणे तु उद्देशयेन विधे-
येन च ऋकारस्याण्भिन्नत्वेन भिन्नाकालस्याग्रहणात् न तस्य स्थानित्वस्य न वा
आदेशस्य प्रसक्तिरिति व्यर्थमेव तत् । ज्ञापिते तु उक्तार्थं ऋकारस्याण्त्वात् प्राह-
कशास्त्रेण स्वर्णत्वबोधनात् दीर्घादेशापत्तिरिति तद्यावृत्यर्थं तकारोपादानं स्वांके
चरितार्थमित्यलं पल्लवितेन ।

प्रश्नः—“येन विधिस्तदन्तस्य” इत्यस्मिन् सूत्रे येन इति तृती-
यान्तस्य कोऽर्थः? “समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः” “उगिद्वर्णप्रहण-
घर्जम्” इत्यनयोः वार्तिक्योः फलं च विवेचनीयम् ।

उत्तरम्—येन इति करणे तृतीया करणस्य व्यापारवत्वनियमात्, अन्येषां च
व्यापाराभावात्, विशेषणमेव अत्र करणतृतीयान्तेनोऽयते । तस्म च इतरव्या-
वृत्तिकरणमेव व्यापारः, तत्र शब्दोपस्थितविशेषस्य ताहाशं विशेषणमेव तदन्तग्रा-
हकम् । क्वचित् सति गमके अताहाशं शब्दरूपं विशेष्यमादायापि तदन्तविधिः ।
अत एव “इनहन्” इत्यादिविषये तदन्तविधिः ।

“समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः” एतद्वार्तिकम् । समासविधौ प्रत्ययविधौ च
तदन्तविधेः प्रतिषेधो वाऽयः । तेन कृष्णं परमभितः इत्यत्र “द्वितीयाभितातीत”
इति समासो न भवति, समासविधित्वेन तदन्तविधेरभावात् । सूत्रनदस्य गोत्राप-
त्यं सौत्रनाडिरित्यत्र च “मडादिभ्यः फक्” इति फक् न भवति, प्रत्ययविधित्वेन
तदन्तविधेरभावात् ।

नन्देवं पचात्मतिकान्ता अतिपचन्तीत्यत्र “उगितद्वच्” इति उगिदन्तात्प्रा-
तिपदिकात् विहितो छोप न स्यात्, प्रत्ययविधौ तदन्तविधेः प्रतिषेधात् । तथा
“अस इम्” इत्यनेन अस्यापत्यम् इः इत्यत्रैव इम् प्रत्ययः स्यात्, अदन्तदक्षशा-
क्षात् दक्षस्यापत्यं दाक्षिः इत्यत्र इम् न स्यादिति चेद्, न । “उगिद्वर्णप्रहणघर्जं.

म्” इति निषेदात् । तस्य श्यमर्थः—उगिदप्रहणं वर्णग्रहणं च वर्जयित्वा “समासप्रत्ययविधौ” हृत्युक्तः प्रतिषेधो भवति । उगिद्वर्णप्रहणे तु “येन विधिः” इति तदन्तविधिरस्येव । ततश्च अतिपचन्तीत्यत्र उगिदन्तप्रातिपदिकात् “उगि-तश्च” इति छीप्, दाक्षिरित्यत्र अवर्णन्तादित् च सिद्धयतीति दिक् ।

प्रश्नः—“नवेति विभाषा” इत्यस्यार्थः, फलञ्च संक्षेपेण लिख ।

उत्तरम्—अत्र न वा, इति विभाषा इति च पदन्त्रयम् इतिर्लोके अर्थपदार्थकस्य शब्दपदार्थकत्वकृत् । यथा—गवित्ययमाह हृत्यादावनुकरणे । अस्मिन् सूत्रे तु स्वरूपमिति परिभाषणात् शब्दपदार्थकस्य अर्थपदार्थकत्वकृत् । स च न वा शब्दाभ्यां प्रत्येकं सम्बद्धयते, व्याख्यानात् । तेन न वा शब्दयोरर्थौ संज्ञिनौ । प्राप्त-विभाषासु नास्योपयोगः । तासां पक्षे निवृत्तिमात्रफलकत्वात् । अप्राप्तविभाषा-स्वपि न । तासां पक्षे विधिमात्रार्थकत्वात् । अप्राप्तत्वेन निषेधास्मभवाच्च । तस्माद्गुभयत्र विभाषार्थमिदम् ।

तथाहि—द्विवचनबहुवचनेऽवपित्सु “वचिस्वपियजादीनां किति” इति नित्य-तथा सम्प्रसारणं प्राप्तम्, पित्सु त्वेकवचनेषु सम्प्रसारणं न प्राप्तम्, “असंयोगा-स्लिट्टकित्” इति कित्वस्यापित्तव्येव प्रवृत्तेः । एवं च प्राप्तेऽप्राप्ते चारमभाव् “विभाषाइषेः” हृत्युभयत्र विभाषा इति स्थितिः । तत्र हि श्रुतक्रमानुरोधात् पूर्वं कित्सु निषेधः । तत्र किदकिदप्ये सर्वस्मिन् लिटि ऐक्यरूपं प्रापिते सति पक्षे भव-तीत्येकरूपेण विधिसुलेनैव विकलपः । यथा—शुशाव, शिशाय, हृत्यत्रेति दिक् ।

प्रश्नः—“प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः” इति परिभाषया “सुस्ति-डन्तं पदम्” इति सूत्रघटकसुसिङ्गोः प्रत्ययत्वेन तदन्तग्रहणे सिद्धे अ-न्तग्रहणं किमर्थविति विवेचनीयम् ।

उत्तरम्—“प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः” इति परिभाषया सुसिङ्गोः प्रत्यय-त्वेन तदन्तग्रहणे सिद्धे अन्तग्रहणं व्यर्थं सत् ज्ञापयति—“संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्तीति” ति (संज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपिता या प्रत्ययमात्रवृत्तिसाक्षादुद्देश्यता तत्प्रयोजकं पदं यत्र तत्र तत्रादिविशेष्यकतदन्तग्रहणं नास्तीति) तेन बसंजा तरसमपोरेव न तदन्तस्य । तेन गौरीब्राह्मणितरा हृत्यत्र न हस्त इति दिक् ।

इति संज्ञाप्रकरणम् ।

अथ परिभाषा प्रकरणम् ।

प्रश्नः— आन्तर्यं कति विधम् ? तेषां लक्ष्याणि च प्रदृश्य ‘यत्रा-
नेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीय’ इत्यस्य फलं बद् ।

उत्तरम्—आन्तर्यं चतुर्विधम्, स्थानार्थगुणप्रमाणभेदात् । स्थानतो यथा—“दृष्ट्यन्न” अन्न तालुस्थानस्येकारस्य स्थाने तालुस्थानीयकारे जातः । अर्थतो यथा—“पहन्नोमास” इति पादशब्दस्य पदादेशः । गुणतो यथा—“वाग्घरि” अन्न संवारस्य नादस्य घोषस्य महाप्राणस्य हस्य ताहश पद्म घकारः । प्रमाणतो यथा-अमुम्, अमू, अ न् । “भद्रसोसेरि”त्यनेन दृश्वस्य दृश्वो दीर्घस्य च दीर्घ ऊकारः ।

चेता, स्तोता, इत्यन्न “पुगन्तलघूपधस्य च” इत्यनेन इकारोकारयोः स्थानत आन्तर्याद् एकारौकाररूपे गुणे प्राप्ते प्रमाणत आन्तर्याच्च अकाररूपे गुणे प्राप्ते “यन्नानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः” इति परिभाषया स्थानत आन्तर्यस्य बलवत्वात् एकारौकरौ स्तु पुष्टेति दिक् ।

प्रदनः—“अष्टाभ्य औश्” इत्यादौ “आदेः परस्य” इयं परिभाषा
“अनेकालशित्सर्वस्य” इत्यनया कथं बाध्यते तत्प्रदर्शय ।

उत्तरम्—‘अष्टा जस्’ हृति स्थिते, अत्र “अष्टाभ्य औश्” हृत्यनेन औश् प्राप्तः। स च “तत्मादित्युत्तरस्य” हृति परिभाषया मष्टनूशब्दान् पवहितपरस्य प्राप्तः, तत्रानेकालत्वात् सवार्देशो प्राप्ते, “आदेः परस्य” हृत्यनेन आदेरेव प्राप्ते, तत्र “तुलयबलविरोधे परं कार्यम्” हृति परस्य प्राबलयत्वेन “अनेकालिगत्सर्वस्य” हृति सवार्देशः।

प्रश्नः—“परनित्यान्तरकापवादानामुक्तरोक्तं वलीयः” इत्यस्योदाहरणानि कमशो ब्रत ।

उत्तरम्—पराज्ञतयं यथा—**उदति परम्**, लघूप्रवर्गुणं बाधित्वा नित्यत्वात् शा। पराद्वस्तुङ्गं यथा—उभये देवमनुष्याः। इह “प्रथमवरम्” इति परामपि

विकल्पेन प्राप्तां सर्वनामसंज्ञां बाधित्वा विभक्तिनिरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात् “सर्वादीनि” इति सर्वनामसंज्ञा भवति, परादपवादो यथा—‘दधना, दज्जे इत्यत्र “अस्तिथदधिः” इत्यन्तः परमपि अनेकालिति सर्वादीशं बाधित्वा “हिंडच” इत्यपवादेनान्तरादेशः । नित्यादन्तरङ्गं यथा—‘ग्रामणिनी कुले’ नित्यमपि “हकाऽचिः” इति तुम बाधित्वा “हस्वो नर्णुसक” इत्यन्तरङ्गत्वाद्वयत्वः । कृते तु तुमि, अनजन्तत्वात् हस्वो न स्यात् । अन्तरङ्गादपवादो यथा—‘दैत्यारि, श्रीशः’ परमपि सर्वादीर्घ बाधित्वा अन्तरङ्गत्वादाद्यगुणे यणि च प्राप्ते अपवादत्वात्सवर्णदीर्घं इति दिक् ।
इति परिभाषाप्रकरणम् ।

अथाच्चसन्धिप्रकरणम् ।

प्रश्नः—‘सुध्युपास्य’ इत्यत्र स्थानिवद्वावः कथं निरस्तस्तप्रदर्शय, ।
उत्तरम्—‘सुधी उपास्यः’ इति स्थिते अत्र “हको यणचिः” इति सूत्रेण धकारोत्तरवर्तिन इकारस्य यणि आन्तरतम्यात् यकारे कृते ‘सुध्यु उपास्य’ इति जाते अत्र “अनचिच च” इति द्वित्वे कृते ‘सुध्यु उपास्य’ इति भूते अत्र शङ्कते—न तु “स्थानिवद्वादेशोऽनलिवधौ” इत्यनेन यकारस्य स्थानिवद्वावेनाच्छत्वमात्रित्य अच्चपरत्वेन “अनचिच च” इति द्वित्वनिषेधः स्यादिति चेद्, न । ‘अनलिवधौ’ इति स्थानिवद्वावनिषेधेनाच्चपरत्वाभावात् । न च “अचः परस्मिन् पूर्वविधौ” इति स्थानिवद्वावनिषेधादित्यलम् ।

प्रश्नः—“अनचिच च” इत्येव सिद्धे “वा हतजग्धयोः” इति किमर्थमिति ब्रूत ।

उत्तरम्—न तु “वा हतजग्धयोः” इति व्यर्थम्, द्वित्वस्य तु “अनचिच च” इत्यनेनैव सिद्धत्वादिति चेद्, न । कान्ते परे पुत्रशङ्कदस्य यदि द्वित्वम्, तर्हि हतजग्धयोरेव; आक्षोश पव इति नियमार्थमावश्यकत्वात् । नियमफलं तु पुत्रवित्तिः, पुत्रहृतिरित्यादौ द्वित्वाभावः ।

न तु पुत्रहृतीत्यादौ हतशङ्कदपरत्वाभावेन द्वित्वं न स्यादिति चेत्, न । प्रातिप्रश्निग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् इति परिभाषया द्वित्वप्रबृत्तेः सुवचत्वात् ।

प्रश्नः—“हतो यमां यमि लोपः” इति सूत्रस्य प्रयोजनं वद ।

उत्तरम्—ननु हर्थनुभवः, नद्यस्ति, इत्यादौ “अचो रहाभ्यां द्वे” इति विकल्पेन द्वित्वे द्वियकारात्मकं रूपं, द्वित्वाभावपक्षे एकयकारात्मकं रूपम्, तत्र “हलो यमां यमि लोपः” इत्यनेन विकल्पेन लोपे एकयकारात्मकं, लोपाभावपक्षे तु द्वियकारात्मकं रूपमिति द्वित्वेन यत् सिद्धं तदनेनापीति, “हलो यमां यमि लोपः” इत्यस्य प्रयोजनं न किञ्चिदिति चेद् ? न । अदितेरादित्यस्य वा अपत्यम् आदित्यः, इत्यत्र आदित्यशब्दाद्वैदेवतायेण “दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः” इति यथप्रत्यये णकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते भस्त्रायाम् “यथेति च” इत्यकारकोपे “हलो यमां यमि लोपः” इति विकल्पेन यलोपे एकयकारात्मकं रूपम्, लोपाभावपक्षे—द्वियकारात्मकं रूपमिति फलस्य सत्त्वात् ।

प्रश्नः—गव्यूतिरित्यत्र “लोपः शाकल्यस्य” इत्यनेन वलोपः कुतो नेति स्पष्टं वद ?

उत्तरम्—गव्यूतिरित्यत्र “अतियुति” इत्यादिना यूतिशब्दो निपातितः, गोशब्दस्य यूतिशब्देन समासे ‘गो + यूति’ इति स्थिते ‘गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम्’ इत्यनेन “अध्वपरिमाणे च” इत्यनेन वा वान्तादेशे कृते गव्यूतिरिति जाते अन्तर्बर्तिनीं विभक्तीमात्रित्य वकारस्य पदान्तत्वात् “लोपः शाकल्यस्य” इत्यनेन वलोपे प्राप्ते सति न भवति । “वान्तो यि” इत्यत्र वकारात्पूर्वभागे “लोपो व्योर्वल्लि” इति लोपेन वकारः प्रशिक्ष्यते, तस्य च श्रूयमाणवकारान्त आदेशः स्यादित्यर्थात् । न च “वान्तो यि” इत्यत्र वकारस्य प्रश्लेषेऽपि तत्सूत्रे एव प्रश्लेषस्य फलम्, अत्र तु फलाभाव इति वाच्यम् ? “गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम्” इत्यत्र छकारात्पूर्वभागे प्रश्लेषकरणेन समाधातुं शक्यत्वात् ।

प्रश्नः—“धातोस्तन्निमित्तस्यैव” इत्यत्र नियमाकारः कीदृशः ?

उत्तरम्—लक्ष्यम्, इत्यत्र ‘लुक्—छेदने, इति धातोः “अचो यत्” इति यति “आर्धधातुकं शेषः” इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् “सार्वधातुकाधंधातुकयोः” इति गुणे ‘लो + यम्’ इति स्थिते ओकारास्य प्रत्ययनिमित्तस्त्वेन “धातोस्तन्निमित्तस्यैव” इत्यनेन वान्तादेशे रूपम् । ‘अवश्यलाङ्घयम्’ इत्यत्र तु आवश्यके उपपदे लुक्धातोः “ओरावश्यके” इति यति “मयूरर्घयसकादयश्च” इति समासे “लुम्पे वश्यमः कृत्ये” इति मलोपे “अचो चिणति” इति वृद्धो ‘अवश्यलौ + यम्’ इति स्थिते औकारास्य प्रत्ययनिमित्तस्त्वेन “धातोस्तन्निमित्तस्यैव” इत्यनेन वान्तादेशे

सति रूपम् । इह उभयत्र “वान्तो यि प्रत्यये” हृत्यनेन वान्तादेशे सिद्धे “धातो-स्तन्निमित्तस्यैव” इति “सिद्धं सति आरभ्यमाणो विधिनियमाय भवति” इति न्यायेन नियमार्थम् । नियमस्य सजातीयापेक्षत्वात् यदौ प्रत्यये परे धातोरेचइचेद्वा-न्तादेशस्तर्हि प्रत्ययनिमित्तस्यैव एव नान्यत्य, तेन ओयत हृत्यत्र आङ्गपूर्वकात् वेजः कर्मणि लहि, यकि, सम्प्रसारणे पूर्वरूपे आडा सह आदृगुणे च ‘ओयत’ हृत्यत्र प्र-त्ययनिमित्तस्यैवोऽभावात् न वान्तादेशः । नियमाभावे तु पूर्वसूत्रेणात्र वान्तादेशापत्तिः स्यात् ।

ननु अन्तरङ्गवान्तादेशदृष्ट्या बहिरङ्गगुणस्यासिद्धत्वेन वान्तादेशप्राप्त्या ना-वश्यकं तत्सूत्रमितिचेद् ? न । वेजः कर्मणि लहि यकि सम्प्रसारणे पूर्वरूपे आडा-गमे “आटश्च” इति वृद्धो ‘ओयत’ हृत्यत्र वान्तादेशव्यावृत्यर्थं तस्यावश्यकत्वात् ।

प्रश्नः—“धातोस्तन्निमित्तस्यैव” इति नियमेनैव अन्यव्यावृत्तिः सिद्धा, सूत्रे एवकारः किमर्थमिति दर्शय ?

उत्तरम्—“सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिनियमाय भवति” इति न्यायेन नियमविधिसिद्धे तन्निमित्तस्यैवेति एवकारस्तु विपरीतनियमव्यावृत्यर्थः । एवका-राभावे हि यदि प्रत्ययनिमित्तकर्त्य चेदेवो वान्तादेशस्तर्हि धातोरेवैवः हृत्यपि नि-यमः प्रतीयेत, तथाच बाब्रव्य हृत्यत्र वान्तादेशो न स्यादित्यलम् ।

प्रश्नः—“कानि सन्ति कौ स्तः” अस्याः फक्तिकायाः आशयः श-द्वासमाधानपुरः सरमुपपादनीयः ।

उत्तरम्—ननु शब्ददशाल्पे पक्षद्वयं पदसंस्कारपक्षो वाक्यसंस्कारपक्षश्च, तत्र परस्परनिरपेक्षाणि पदानि संस्क्रियन्ते यत्रासौ पदसंस्कारपक्षः । एवं वाक्यादुधृत्य पदानि संस्क्रियन्ते यत्रासौ वाक्यसंस्कारपक्षः । तथाच—वाक्यसंस्कारपक्षे ‘कानि सन्ति’ इति वाक्ये प्रक्रियाक्रमेण पूर्वं ‘किम्’ शब्दः तदुत्तरं जस् ततो अस् धातुः, तदुत्तरं क्षिं इति किमः कादेशे जसः इयादेशे तुमि दीर्घं च कानि इति सिद्धयति । अस्धातोः “इन्सोरल्लोपः” हृत्यस्त्वोपे “झोऽन्तः” इति अन्तादेशे सन्तीत्यह्य सिद्धिः । एवं च स्थानिभूतादकारात् पूर्वत्वेन हृष्टस्येकारस्य यणि कर्तव्ये “अचः पर-स्त्रिमन्” इति स्थानिवस्त्रेन अकारस्य समावात् अस्त्वयेव यणः प्रसक्तिः । एवं कौ स्तः हृत्यत्राऽपि “अचः परस्त्रिमन् पूर्वविधौ” इति सूत्रेण स्थानिवस्त्रावात् अकार-रूपमच्छस्माभित्यास्त्वयेव अवादेशस्य प्रसक्तिरिति चेद् । न । यणादिरूपचरमाच-

यद्यकायें कर्तव्ये “न पदान्त” सूत्रेण स्थानिकज्ञावनिषेचात् ।

प्रश्नः—पुरस्तादपवादन्यायस्य किं स्वरूपम् ? बाध्यशाधकभा-
वश्च कीदृशः ? ‘अवैहि’ इति वृद्धिः साधुनंवेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—‘पुरस्तादपवादाः अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्’ इति न्या-
यस्वरूपम् । पूर्वपटिताः अपवादाः अध्यवहितानेवोत्तरान् विधीन् बाधन्ते, न
तु व्यवहितानित्यर्थः । प्रहृते च “एत्येष्ट्यूठसु”—इत्युत्तरं कानिवित् सूत्राणि
पटित्वा “एडि पररूपम्” इति पटित्वा पुनः कतिपयसूत्राणि पटित्वा “ओमाङ्गो-
श्च” इति पटित्वम् । ततश्च उक्तन्यायेन “एत्येष्ट्यूठसु” इति वृद्धया “एडि पर-
रूपम्” इत्येव बाधयते, न तु “ओमाङ्गोश्च” इति पररूपमयीति । अपवादस्वरूपरू-
प्ति—“एत्यंवस्त्यूठसु” इति सूत्रस्य यत्र यत्र अवर्णादेजादि इत्युत्तरं प्रधत्यन्यतरधात्ववय-
वभञ्चपरत्वसत्त्वेन प्रासिविषयता तत्र तत्र उपर्युक्ति प्रधत्यते इत्यादौ “एडि पररूपम्”
इत्यस्य प्रासिर्वर्तते, इति “एत्येष्ट्यूठसु” इत्यस्यापवादस्त्रम् । यत्र इत्यचित् ‘अव
एहि’ इत्यादौ “एडि पररूपम्” “ओमाङ्गोश्च” प्रासिर्वर्तते । “एत्येष्ट्यूठ-
सु” इत्यस्य निरवकाशत्वेन अपवादत्वात् उभयवाधकत्वं प्रसक्तम्, तथापि
सकललक्ष्यप्रासिविषयतया नाप्राप्तं एडि पररूपवायेन ‘उप + एति’ ‘प्र + एवते’
इत्यादौ वृद्धेश्चारिताऽर्थयेन “ओमाङ्गोश्च” इत्यस्य वाये निरवकाशत्वरूपवाध-
कोजस्य अभावेन उभयोस्तुत्यबलत्ये “विप्रतिषेधे परं कार्यम्” इति पररूपस्य प-
रत्वात् प्रबलतया ‘अव एहि’ इत्यत्र प्रवृत्तिरिति ‘अवैहि’ इतिपररूपवर्तितं साधु,
वृद्धिवित्तं च असाधुरिति दिक् ।

प्रश्नः—“प्रादूहोडोद्येष्येष्येषु” इतिवार्तिकेन प्रोढवान् इत्यत्रापि
प्र उपसर्गात् ऊढपरस्त्वेन वृद्धिः स्यान् वा इति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—‘ब्रह्मश्वस्त्रज्ञानज्ञानज्ञानज्ञानज्ञानं चः’ इत्यत्र केवलराजप्रह-
णेनैव चत्वसिद्धौ आजग्रहणं उर्ध्ये सज्जापयति—‘अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्’
इति । अर्थवतः शब्दस्य ग्रहणसम्भवे अनर्थकस्य शब्दस्य ग्रहणं न भवतीति त-
दर्थः । तेन “प्रादूहोडोद्येष्येषु” इति वार्तिकस्थऊढपदेन सार्थकस्य तस्य ग्रहणात्
प्रौढः इत्यत्र वृद्धिभर्वति, प्रोढवान् इत्यत्र कवतुपत्ययान्तर्ऊढवत्तशब्दवक्तुऊढ-
इत्यस्य अनर्थकस्य तस्य अग्रहणापि अस्य वा तत्कस्य अप्रवृत्तौ “भादू गुणः”
इति गुण प्रेति दिक् ।

प्रश्नः—‘प्रार्थुति’ इत्यन्न भन्तवद्भावेन पदान्तत्वमादाय रेफस्य विसर्गः कुतो नेति चद ।

उत्तरम्—‘प्र + ऋथति’ इति स्थिते “उपसर्गाद्विधातौ” इति सूत्रेण “स्थानेऽन्तरतमः” इति परिभाषैकवाक्यतया ‘अनान्तर्यमेवैतयोशन्तर्यम्’ इत्यान्तरतम्यादुपसर्गावयवाकारात् ऋकाराद्विरच्छधात्ववश्वे अथि परे पूर्वपरयोः स्थाने अकारैकादेशे “उरण् रपरः” इति रपे च कुते ‘प्रार्थति’ इति सिद्धम् ।

नन्वत्र “भन्तादिवच्च” इत्यनेन पूर्वस्थानिधिटिसमुदायपर्यासपदात्वधर्मं स्य एकादेशान्ते प्रारूपहत्यारोपेण रेफस्य पदान्तत्वात् “खरवसानयोर्विसर्जनीयः” इति विसर्गः कुतो नेति चेत् ? न । “उभयथक्षुः” “कर्तरि चर्विं” इत्यादिषु रेफस्य विसर्गाकरणपूर्वकं रेफविशिष्टनिदेशेन अन्तवद्भावेन पदान्तत्वमादाय रेफस्य विसर्गाभावज्ञापनात् ।

प्रश्नः—उपसर्गेणव धातोऽप्लेपे सिद्धे पुनः धातुग्रहणं किमर्थमि-ति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—‘उप + ऋच्छति’ इति स्थिते अत्र “उपसर्गाद्विधातौ” इति सूत्रेण “स्थानेऽन्तरतमः” इति परिभाषैकवाक्यतया अनान्तर्यमेवैतयोशन्तर्यमित्यान्तरतम्यमादाय पूर्वपरयोः अकारऋक्कारयोः स्थाने आकाररूपवृद्धैकादेशे “उरण् रपरः” इति रपे ‘उपार्थति’ इति सिद्धयति ।

नन्वत्र “उपसर्गाद्विधातौ” इति वृद्धिः कथम् ? “ऋत्यकः” इति इत्यसमुच्चितप्रकृतिभावः स्थादिति चेद्दृ ? न । “उपसर्गाद्विधातौ” इत्यन्न ‘धातौ’ इति योगविभागं कृत्वा तत्र वाक्यमेदेन च ‘उपसर्गाद्विधाति’ इत्यनुवर्त्य पूर्वसूत्रविधयनुवादभूतपुनर्वृद्धिविधानसामर्थ्येन प्रकृतिभावस्थापि बाधात् । न च पूर्वसूत्रे धातावित्यद्य अभावे “उपसर्गाद्विधाति” इत्यस्य अधातावपि प्रबृत्तिः स्थादिति वाच्यम् । धाताविति ग्रहणाभवेऽपि उपसर्गेण तस्य आक्षेपसम्भवात् ।

प्रश्नः—डपेडकीयति प्रोघीयति, इत्यन्न पररूपं केन भवति, तत् प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“एङ्गि पररूपम्” इत्यन्न “वा सुषि” इत्यनुवर्तते । तच्चैकवाक्यतया सम्बद्धते । तथा सति अवर्णान्तादुपसर्गादेशादौ सुपूर्धातौ परे पररूपमेकादेशो वा स्थादिस्येवार्थः स्थात् । पूर्व सति ग्रेजते डपोचति इत्यन्न पररूपं च

स्यात् । अतो वाक्यमेदेन व्याख्येयम् । तथाहि—“दृढिं पररूपम्” इति प्रथमं वाक्यम् । अवर्णन्तादुपसगदेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यादिति तदर्थः । “वा सुषिं” इति द्वितीयं वाक्यम् । तत्र “दृढिं पररूपम्” इत्यनुवर्तते, धातौ उपसगदित्यादि च । ततश्च अवर्णन्तादुपसगदेङादौ सुद्धातौ परे पररूपमेकादेशो वा स्यादित्यर्थः । ‘उप + एडकीयति’ ‘प्र + ओषीयति’ इत्यत्र अनेन विकल्पेन पररूपे ‘प्रोषीयति’ ‘उपेडकीयति’ इति सिध्यतः । विकल्पाभावपक्षे तु “बृद्धिरेचि” इति बृद्धौ ‘उपेडकीयति’ ‘प्रोषीयति’ इति स्तः ।

प्रश्नः—“अकः सवर्णे दीर्घः” इति सूत्रे अच्च इत्यनुवृत्तिः किमर्था ? तदुपपादय ।

उत्तरम्—‘कुमारी + शेते’ इत्यत्र “अकः सवर्णे दीर्घः” इत्यस्मिन् सूत्रे अच्च पदानुवृत्यभावे दीर्घेकारशकारयोः विवृतप्रयत्नतालुस्थानतुल्यत्वेन “तु रुप्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्” इति सवर्णसंज्ञायां दीर्घेकारात् शकारे सवर्णे परे पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घपत्तिः । न च “नाजङ्गलौ” इति सूत्रेण तयोः सावर्ण्यनिषेधः इति बाच्यम् ? तत्र सूत्रे अच्चपदेन दीर्घादीनां ग्रहणभावेन दीर्घादीनां हृलांचं परस्परं सवर्णसंज्ञानिषेधत्य वक्तुमशक्यत्वात् । अच्चपदेन दीर्घादीनां ग्रहणम् “अणुदित्” सूत्रेण कर्तव्यम् ? तच्च न सम्भवति, “नाजङ्गलौ” इति सूत्रार्थविवेचकाले ग्रहणकशास्त्रस्य “अणुदित्” सूत्रस्य सावर्ण्यविधिनिषेधाभ्यां प्राग्निष्पत्या “अणुदित्” सूत्रेण ग्राहकत्वेन बोधाभावात् ।

प्रश्नः—“अवङ्गू स्फोटायनस्य” इत्यस्मिन् सूत्रे ‘अति’ इति कथं निवृत्तमिति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“प्लुतप्रगृह्णा” इत्यत्र—“नित्यप्रहृणं किमर्थम् ?” “इन्द्रे च” इत्यारम्भसामर्थ्यादेव नित्यत्वलाभात्” इति भाष्योक्तमेव प्रकृते ‘अति’ इति निवृत्तौ मानम् । अन्यथा ‘गवेन्द्रः’ इत्यादावत्परत्वाभावादवडोऽप्राप्त्या तदर्थं “इन्द्रे च” इत्यस्यावश्यकत्वादाराम्भसामर्थ्यान्वित्यत्वलाभः इति भाष्यकारोक्तिसङ्गता स्यात् । ‘अति’ इति निवृत्तौ ‘अचि’ इति मण्ड्रकप्लुत्यानुवृत्तिवीकरे च पूर्वसूत्रेणैव तत्रावङ्गसिद्धौ “इन्द्रे च” इत्यस्य वैयायेन तत्सामर्थ्यात् ‘नित्यमिति किम्’ इति भाष्योक्ते: सामर्भस्यमेवेति दिक् ।

प्रश्नः—“व्यवस्थितविभाषया गवाक्षः” अस्या आशयः कः इति

प्रतिपाद्य ।

उत्तरम्—कचिद्वतीत्यंशा एव प्रत्यर्तते, कवितु न भवतीत्यंशा एव, कचिद्बृ-
भयमित्येवं लक्ष्यानुसारेण व्यवस्थया प्रवृत्ता विभाषा व्यवस्थितविभाषा, “सर्वत्र-
विभाषा गोः” इत्यत्राश्रीयते, ततश्च ‘गवाक्षः’ इत्यत्र नित्यमेत्तावद् भवतीत्यर्थः ।

अथ प्रकृतिभावः—

प्रश्नः—“प्लुतप्रगृह्णा अचि नित्यम्” इत्यत्र नित्यग्रहणस्य फलं लिख ।

उत्तरम्—‘हरी + ईशौ’ इत्यादौ “प्लुतप्रगृह्णा अचि नित्यम्” इत्येतत्सा-
चकाशम्, ‘चक्री + अन्न’ इत्यत्र तु “इकोऽसवर्णं शाकलयस्य हृस्वश्च” इति, ततश्च
‘हरी + पतौ’ इत्यादौ परत्वात् “इकोऽसवर्णं शाकलयस्य हृस्वश्च” इति हृस्वसमुचित
एव प्रकृतिभावो भवेत् । नित्यग्रहणे तु तत्सामध्येन प्लुतस्य प्रगृह्णासंज्ञकस्य चाचि
परेऽयमेव प्रकृतिभावो नान्य इति बोधयते । तेन ‘हरी + पतौ’ इत्यत्र द्विवचकान्त-
स्य ईकारान्तस्य “ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्णाम्” इति प्रगृह्णासंज्ञायामयमेव प्रकृतिभावो
भवति, न तु “इकोऽसवर्णं शाकलयस्य हृस्वश्च” इति हृस्वसमुचित इति दिक् ।

प्रश्नः—“इकोऽसवर्णं शाकलयस्य हृस्वश्च” इत्यत्र चकारः कर्त-
व्यो नवेति घद ।

उत्तरम्—ननु ‘चक्री + अन्न’ अन्न “इकोऽसवर्णं शाकलयस्य हृस्वश्च” इत्य-
नेन हृस्वे कृते “इको यणचि” इति यण् स्यादिति चेद् ? न । हृस्वविधानसाम-
ध्यात् । अन्यथा प्रकृतसूक्तेण हृस्वविधेः वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । एवम् प्रकृतिभावस्या-
न्यथासिद्धत्वात्तदनुकर्णार्थदक्चारो न कर्तव्य इति भाष्ये लिखतम् ।

प्रश्नः—“अप्लुतवदुपस्थिते” इत्यत्र ‘वत्’ ग्रहणस्य किम्प्रयोजनम् ।

उत्तरम्—“अप्लुतवदुपस्थिते” इत्यत्र वदूप्रहणं विहाय ‘अप्लुत उपस्थि-
ते’ इत्युक्ते प्लुतस्य स्थाने अप्लुत एव विधीयेत । अतः प्लुत एव निवत्तेत ।
ततश्च ‘अग्नी ति’ इत्यत्र सम्बोधनप्रथमाद्विवचनान्तस्यानुकरणे प्रगृह्ण ईकारः त्रि-
मात्रो न श्रूयेत । वत्करणे तु ‘अग्नी इति’ इत्यत्र “दूरादधूते च” इति प्लुते,
तस्यासिद्धत्वात् “ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्णाम्” इति प्रगृह्णासंज्ञायाम् “अप्लुतवदुपस्थि-
ते” इति अप्लुतवद्वावेऽपि “प्लुतप्रगृह्णा अचि नित्यम्” इति प्रगृह्णाभ्ये प्रकृति-
भावे जाते प्लुतस्य भवणं भवति ।

प्रश्नः—‘मणीवोष्टस्य’ इत्यत्र “ईदूदेदूद्विवचनं प्रगृह्णम्” इति प्रकृतिभावस्य प्राप्तौ सत्यां ‘सवर्णदीर्घः’ कथं भवतीति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—ननु ‘ईदूदेदूद्विवचनं प्रगृह्णम्’ इति सूत्रेण ईकारात्मद्विवचनस्य प्रगृह्णसंज्ञा, ततोऽचि परे प्रकृतिभावश्च भवति यथा—‘हरी + षट्’ इत्यादौ । पवं सति ‘मणी + इव’ इत्यत्रापि तेन प्रकृतिभावः स्यात्, सवर्णदीर्घः कथमिति चेदुच्यते । अत्र न इव शब्दः, किन्तु इवार्थो वशब्दो वाशब्दो वास्तीति सवर्णदीर्घस्यानाभावात् ।

प्रश्नः—‘रामकृष्णावस्मृ आसाते’ अत्र पुलिङ्गनिदेशः किमर्थं इति सुष्ठूपपादय ।

उत्तरम्—स्त्रीलिङ्गे नपुंसकलिङ्गे च “ईदूदेदूद्विवचनं प्रगृह्णम्” इति सूत्रदृष्ट्या मुत्वस्थासिद्धत्वेन ‘अदे’ इति रूपे जाते, तत्र पूर्वसूत्रेण “ईदूदेदूद्विवचनं प्रगृह्णम्” इति रूपम्, तत्र पूर्वसूत्रेण सर्वथैव प्रकृतिभावासिद्धे मात्परत्योकारस्य प्रगृह्णसंज्ञाया इदमेवापूर्वं फलम् । अतः प्रकृते—‘रामकृष्णावस्मृ आसाते’ इति निर्दिष्टम् ।

प्रश्नः—“अदसो मात्” इत्यस्मिन् सूत्रे माद्यग्रहणं किमर्थमिति वदा ।

उत्तरम्—“अदसो मात्” इत्यत्र माद्यग्रहणाभावे “संनियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः” इति परिभाषया “ईदूदेत्वत्” इति सूत्रात् ईकारादीनां ऋयाणामनुवृत्तिः “अदसो मात्” इत्यत्र स्यात् । तेन ‘असुकेऽत्र’ इत्यत्रापि प्रगृह्णसंज्ञा प्रकृतिभाववच स्यात् । तत्रिवारणार्थं प्रकृते माद्यग्रहणमावश्यकम् । माद्यग्रहणे कृते तु मकारारस्परस्य एकारस्यासम्भवात् न तत्र प्रकृतिभावः ।

प्रश्नः—“इको यणचि” इत्यनन्तरमेव “मय उओ वा” इति पठितस्यम् वोग्रहणञ्च न कर्तव्यं, एवं कृते किं रथाश्रिति लिख ।

उत्तरम्—यदि षष्ठाऽयायस्य प्रथमे पादे “इको यणचि” हृत्यनन्तरं मयः परस्य उभो यणादेकविकल्पो विधीयेत, तर्हि ‘किम्बुकम्’ इत्यत्र “मोऽनुस्वारः” इति मकारस्य वकारे परे अनुस्वारः स्यात् । त्रिपार्णं वत्वविधौ तु तत्यासिद्धत्वान्नानुस्वारः । त्रिपाद्यामनुस्वारविभ्यपेक्षया वत्वविधैः परत्वात् ।

प्रश्नः—“ईदुतौ च सप्तम्यर्थे” अत्र सूत्रे ‘अर्थंग्रहणं’ किमर्थमिति

सुधु प्रतिपाद्य ।

उत्तरम्—ननु अर्थप्रहणभावेऽपि ईदूदंशे सप्तमीविशेषणत्वेन; प्रत्ययांशे च तदादिविशेषणत्वेन तदन्तविधिद्वयेन ईदूदन्तं यत्सप्तम्यन्तं तत् प्रगृह्णसंज्ञकं स्यादित्य-ये नैवेष्टसिद्धेरथंग्रहणं व्यर्थमेव । न च ‘संज्ञाविधौ प्रत्ययप्रहणे तदन्तप्रहणं नालित्’ इति तदन्तविधिनिषेधेनोक्तार्थासम्भव इति वाच्यम् । ‘ईदूतौ सप्तमी प्रगृह्णम्’ अदसः; ‘पृच्छ द्विवचनम्’ इत्येव सुन्नियतव्ये गुरुभूतन्यासकरणसामर्थ्यांत् । ‘ययो’ ‘पपी’ इत्यादौ परादिवज्ञावेन सप्तमीत्वमादाय सूत्रसाक्षयेऽपि ऊकारांशेऽप्तम्भवा-च्च । इति चेद् ? न । अर्थप्रहणेन सप्तम्यर्थविशेष्यताकोपतिथतिजनकस्यैव ईका-रान्तस्य ऊकारान्तस्य वा तत्संज्ञाबोधनात् । पवच्छ ‘गौरी अविश्रितः’ ‘तन् इति’ इत्यन्न ईकारान्ते ऊकारान्ते च सप्तम्यर्थविशेष्यताकोपतिथतिजनकत्वस्य (सप्तम्यर्थनिरूपितशक्तिपर्याप्ताधिकरणत्वस्य) सत्वेन प्रगृह्णसंज्ञासिद्धिः । ‘वाप्यश्व’ इत्यन्न समासघटकवापीशब्दस्य प्रत्ययलक्षणेन सप्तम्यन्तत्वेऽपि समासे समुदाये शक्तिस्वीकारेण सप्तम्यर्थविशेष्यताकोपतिथतिजनकत्वाभावेन न प्रगृह्णसंज्ञेति दिक् ।

इत्यच्छन्धिः ।

अथ हलूसन्धिः ।

प्रश्नः—“न पदान्ताद्वोरनाम्” इत्यन्न टोःप्रहणं किमर्थमित्युपपाद्य ।

उत्तरम्—ननु “तोः षिः” इति निर्देशोन “क्वचिदेकदेशोऽव्यनुवर्तते” इति वरिभाषया “षुना” इतिसुत्रात् दुमात्रस्यानुवृत्तौ पदान्ताद्वगांत्परस्य इत्याच्च-यैवेष्टसिद्धे: टोः प्रहणं व्यर्थमेव । तदेव व्यर्थं सत् उक्तपरिभाषाया अनित्यत्वं ज्ञापयति । पवच्छ टोर्धणाभावे “सञ्चियोगशिष्टान् सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः” इति परिभाषया, “षुना षुः” इत्यतः “न पदान्तात्” इत्यन्न द्वोरनुवृत्या पदान्तात् षक्तारटवगांत्परयोः स्तोः षुने इत्यथेऽपि पदान्तषकारस्य जश्त्वेन ऊकारलैव सम्भ-वात् । ततः परस्य षुत्वनिषेधस्येष्टत्वात् अतिप्रसङ्गाभावेन सूत्रे टोर्तिष्ठ्यमेषेति चेत् ? न । सर्पिष्टममित्यन्न “षुत्वात्तादौ तदिते” इत्यनेन विहितस्य षत्वस्या-सिद्धत्वेन जडत्वाप्रवृत्तौ पदान्तषकारादपि षुत्वनिषेधापत्तेष्टद्वारणाय सूत्रे टोर्धणस्याबश्यकत्वात् ।

प्रश्नः—‘चतुर्मुखः’ इत्यन्न “यरोऽनुनासिके” इति अनुनासिकः

कुतो नेति दर्शय ?

उत्तरम्—ननु ‘चतुर्मुखः’ हृत्यत्र “यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा” इति सूत्रेण पदान्तस्य यरो—रेफस्य, अनुनासिके-सुखशब्दावयवमकारे परे अनुनासिकः मूर्ध-स्थानजन्यो णकारः कुतो नेति चेत् ? उच्यते—“स्थानेऽन्तरतम उरण् रपरः” इति संहितापाठे प्रथमान्तपाठस्वीकारे स्थानिनः स्थाने अन्तरतम एवादेशो भवतीति यथा नियमः, तथा भाष्यकृता “स्थानेऽन्तरतमे” इति सप्तम्यन्तपाठं स्वीकृत्य आदेशो अन्तरतमे स्थानिनि भवतीत्यर्थं द्वाख्याय आदेशोऽपि अन्तरतमस्थैव स्थानिनः स्थाने भवतीति नियमः स्वीकृतः । एवम् स्थानप्रयत्नाभ्याम् अन्तरतमे स्पष्टेण कादिमान्तवर्णे चरितार्थोऽयमनुनासिकविधिः केवलस्थानेन सदृशे रेके न प्रवर्तते । अन्येवं तर्हि कचित् प्रथमान्तपाठस्य कचित् सप्तम्यन्तपाठस्य स्वीकारे अर्धजरस्यापत्तेः दीर्घेकारादौ यणानापत्तेश्च, इति चेत् ? न । “अनुस्वारस्य यवि परस्वर्णः” इति सूत्रात् सर्वणपदमाकृत्य प्रकृतसूत्रे संयोजय पदान्तस्य यरोऽनुनासिके परे सर्वाणुनासिकः स्थादिति सूत्रायं ऐफोष्मणां सर्वर्णा न सन्ति इति भाष्येण रेफस्य सावर्ण्यभावात् णत्वाभाव इति समाधानात् ।

प्रश्नः—‘ककुद्भमन्तः’ इत्यत्र ककुद्भशब्दात् मनुषि प्रत्यये परे “प्रत्यये भाषायां नित्यम्” इति नित्यानुनासिकेन भाष्यम् ? तद्भावश्चात्र कथमिति स्पष्टं प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः” इति यवादिगणे प्रकृतिप्रत्ययस्य पाठात् अनुनासिकाभावः । वस्तुतस्तु “य चिभं तसौ मत्वयें” इति संहितापाठे तकाशत्प्राक् चत्वेन दकारप्रश्लेषात् भत्वेन पदत्वाभावादनुनासिकस्य न प्राप्तिः । पदान्तस्थैव यरः तेनानुनासिकत्वविधानादित्यलम् ।

प्रश्नः—‘मेऽनुस्वारः’ इत्यत्र “पदस्य” इत्यनुवर्तनफलं लिख ।

उत्तरम्—ननु “नश्चापदान्तस्य झलिः” इति सूत्रे मकाराङ्कर्णार्थकच्चकारेण अपदान्तस्य मस्य अनुस्वारशब्देत्तर्हि झलयेत्तेति नियमादेव ‘गम्यते’ इत्यत्र अनुस्वारो न भविष्यदीति चेत् ? न । झलिपरतः अनुस्वारशब्देत्तर्हि अपदान्तस्थैव मस्य इति विपरीतनियमेन ‘हरिं वन्दे’ इति मूले एव अनुस्वारानापत्तेः । एवं च “मनि च पदे” इत्यतः पदानुवृत्तिः कार्येति दिक् ।

प्रश्नः—‘कुर्वन्ति’ इत्यत्र “रषाभ्यां नो णः समानपदे” इति णत्वं

कुतो नेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—‘कुणो लटि, तत्स्थाने ज्ञौ “तनादिकृष्मय उः” इत्यनेन उप्रत्यये “सार्वधातुकार्धधातुकयोः” इत्यनेन गुणे “अत उत् सार्वधातुके” इत्यनेन उदादेशे “ज्ञोऽन्तः” इत्यनेन ज्ञेरन्तादेशे यणादेशे च कृते ‘कुर्वन्ति’ इति सिद्धयति ।

ननु ‘कुर्वन्ति’ इत्यत्र “अट्कुवाहन्तुमूर्यवायेऽपि” इत्यनेन रेफात् अहृत्यव-हितनकारस्य सत्वेन णत्वं स्यादिति चेत् ? उच्यते—“कुर्वन्ति” इत्यत्र “अट्-कुप्वाहन्तुम्” इति णत्वे प्राप्ते तस्यासिद्धत्वात् “नश्चापदान्तस्य ज्ञलि” इति न-कास्यानुस्वारादेशे “अनुस्वारस्य यनि परसवर्णः” इति सूत्रेण तस्य परसवर्णेन न-कारादेशे परसवर्णस्य णत्वदृष्ट्या असिद्धत्वात् न णत्वप्रवृत्तिः ।

प्रह्लः—‘पुंख्यानम्’ इत्यत्र “पुमः खर्यमूपरे” इति रुः कथं न ‘ख्यानादेशे न’ इति अपूर्वं वार्तिकं न वेति च दर्शय ।

उत्तरम्—ननु कक्षिणो लयुटि “खशादिरयमादेशः” इति प्रकृतसूत्रस्थ-भाष्यात् “चक्षिणः खयान्” इति सूत्रेण खशानादेशे “शस्य यो वा” इत्यनेन शस्य यत्वे/तस्यासिद्धप्रकरणस्थगत्वविधायकशास्त्रानन्तरपाठेन “पुमः खर्यमूपरे” इत्ये-तदृष्ट्या असिद्धत्वात् अस्परकत्वाभावेन “पुमः खर्यमूपरे” इत्यस्याप्राप्त्या न स्तवम् । इत्यतन्मूलकमेव “ख्यानादेशे न” इति वचनं नापूर्वमिति दिक् ।

प्रह्लः—“कुप्वोः लक्ष्मीपौ च” इदं शास्त्रं “विसर्जनीयस्य सः” इत्यस्यैव बाधकम्, न तु “शर्परे विसर्जनीयः” इत्यस्य इति कथ-मुक्तम्, तत् प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“येन नाप्राप्ते यो विधिरारम्भते स तस्य बाधको भवति” इति हि न्यायस्वरूपम् । तथाहि—यकर्तृकावश्यप्राप्तौ सत्यां यो विधिरारम्भते; स तस्य बाधको भवतीत्यर्थः । यत्र यत्र “कस्कादिषु च” इत्यस्य प्रवृत्तिः, तत्र तत्र “कुप्वोः लक्ष्मीपौ च” इत्यस्य प्रासिरिति “कुप्वोः लक्ष्मीपौ च” इति शास्त्रकर्तृकाव-श्यप्राप्तौ सत्यां “कस्कादिषु च” इत्यस्य आरम्भ इति, “कस्कादिषु च” इति लक्ष्मीपौर्वाधकं भवति । सकललक्ष्यप्राप्तसूत्रस्यैवापवादो भवतीत्यर्थः ।

एवं च “विसर्जनीयस्य सः” इत्यस्य सकललक्ष्येषु प्रासिसत्वे कुप्वोरित्यस्यार-म्भो न तु “शर्परे” इत्यस्य सर्वत्र प्रासिरिति “कुप्वोः” सूत्रं सकललक्ष्यप्राप्तविसर्ज-नीयस्येति सूत्रस्यैव बाधकम्, नतु कवचित्प्रासिविषय—“शर्परे विसर्जनीय”

इत्यस्य, एवम् 'वासः क्षौमम्' इत्यादौ "शर्पे" इत्येव परत्वात् बाधकमिति दिक्।

प्रश्नः—‘चेच्छ्रद्धते’ इत्यत्र “दीर्घात्” इति पञ्चमीनिर्देशेन “उ० भयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्” इति न्यायेन छ्रस्य तुक् कुतो नेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—ननु “उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्” इति परिभाषया “तस्मिन्” इत्यतः “तस्मादित्युत्तरस्य” इत्यस्य प्राबल्यबोधनात् तदुपस्थितया “दीर्घात्” इति पञ्चम्या छेहतिसम्याः षष्ठीप्रकल्पनेन दीर्घात्परिभूतस्य छस्य तुगित्यर्थं छस्य तुगागमे छकारोपरि चकारश्रवणापत्तिर्दुर्बारति चेद् ? न । “सेना-सुराच्छाया” इति सूत्रनिर्देशात् “उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्” इति परि-भाषां बाधित्वा दीर्घादितिषष्ठ्यर्थं पञ्चमीकल्पनेन दीर्घस्यैवायं तुक्, न तु छस्य इत्याशयात् ।

इति हलसन्धिप्रकरणम् ।

अथ विसर्गसन्धिप्रकरणम् ।

प्रश्नः—‘मातुः कृपा’ इत्यत्र “इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य” इत्यनेन विसर्गस्य षट्वं कुतो नेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य” इति सूत्रेण ‘भ्रातुष्पुत्रः’ इत्यन्नापि षत्चसिद्धौ भ्रातुष्पुत्रशब्दस्य पाठो कस्कादिषु विफलः, स एव व्यर्थं सज्जाप-यति—‘एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न षट्वम्’ इति, तेन ‘मातुः कृपा’ इत्यत्र एका-देशशास्त्रसम्पन्नरेफस्थानिकत्वेन विसर्गस्य न षट्वम् । न च “षट्वतुकोरसिद्धः” इति सूत्रेण एकादेशशास्त्रस्यातिर्दृत्वात् कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रशब्दस्य पाठः सकल इति वाच्यम् ? पदान्तपदाद्योरवैकादेशशास्त्रस्य असिद्धत्वमेव तत्र स्वीकारात् ।

प्रश्नः—“द्वित्रिःचतुरिति कृत्वोऽर्थे” अत्र कृत्वार्थं इति ग्रहणं किमर्थमिति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“सहचरितासहचरितियोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्” इति परिभाषया सुजन्ताम्यां द्वित्रिशब्दस्यां साहचर्यात् सुजन्तस्यैव चतुःशब्दस्यापि ग्रहणं भविष्यतीति ‘चतुर्ष्कपाल’ इत्यत्र सुजन्तत्वाभारत् विकल्पपत्वाप्रासौ कृत्वोर्थं ग्रहणं व्यर्थम् । तदेव व्यर्थं सत् साहचर्यं सर्वत्र न नियामकमिति बोधयति । तेन

“दीधीवेवीताम्” इति सूते दीधीवेवीतिधातुद्रव्यसाहचयेऽपि इट्गताविति धातोर्नं प्रहणम्, किन्तु आगमत्यैव हयो ग्रहणं भवतीति फलमित्यलम् ।

प्रश्नः—‘सर्पिष्कुण्डिका’ इत्यत्र “नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य” इति “इसुसोः सामर्थ्ये” इति वा विसर्गस्य षत्वसिद्धे कस्कादिगणे तस्य पाठः किमर्थः तदुपपादय ।

उत्तरम्—‘नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य’ इत्यनेन समासे एव षत्वं विधीयते, यथा-सर्पिषः कुण्डिका सर्पिष्कुण्डिका इत्यत्र । “इसुसोः सामर्थ्ये” इत्यनेन तु व्यपेक्षारूपसामर्थ्ये एव षत्वं विधीयते ‘सर्पिष्करोति’ इत्यादौ । यदा तु तिष्ठतु सर्पिः कुण्डिकामानय इति प्रयोगः, तत्र सर्पिष्कुण्डिकामिति षत्ववितम् यथा स्यादित्येतदर्थे कस्कादिगणे पाठः । अपरं च व्यपेक्षायां “इसुसोः सामर्थ्ये” इति विकलपेन षत्वं भवति, कस्कादिगणे पाठेन व्यपेक्षायामपि सर्पिष्कुण्डिकायामित्येकमेव स्यादिति तदर्थमपि कस्कादिगणे तस्य पाठः इत्यलम् ।

इति विसर्गसन्धिप्रकरणम् ।

अथ स्वादिसन्धिप्रकरणम् ।

प्रश्नः—“अतो रोरप्लुतादप्लुते” इत्यत्र अप्लुतादिति किमर्थमिति तदुपपादय ।

उत्तरम्—“अतो रोरप्लुतादप्लुते” इत्यत्र अप्लुतादित्यस्याभेदे “दहि सुशोतः अत्र स्नाहि” इति वाक्ये पूर्ववाक्यत्वे टेः “दूरादधूते च” इत्यनेन प्लुतविधानात् पदान्तत्वे रोः प्लुतात्परत्वेन तत्रोत्तरं मा भूत इति सूते अप्लुतादितिपदम् । नवान्न अप्लुतादितिविशेषणाभाषेऽपि स्तत इति तपरकरणेन हस्त्वाकार एव गृह्णते इति नाश्रोत्तरं स्यादिति वाच्यम् ? प्लुतस्यासिद्धत्वेन अतः परत्वात् । अप्लुतादिति कृते तु तत्सामर्थ्यान्नासिद्धत्वम् । यदि प्लुतोऽसिद्धः स्यात्तदा सर्वत्रैव अप्लुताकार एव उपलभ्येत; अप्लुतादिति विशेषणन्तु व्यर्थमेव स्यात् । तपकरणं तु दीर्घाकारात्परस्य रुत्वत्व्य उत्त्ववारणेन चरितार्थमिति तपरकरणसामर्थ्यान्नाश्रोत्वमिति वक्तुमशक्यमित्यलम् ।

प्रश्नः—“भोम्भगोम्भो अपूर्वस्य योऽशि” इत्यत्र अशिप्रहणं किमर्थम् ? तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु “भोभगो” इत्यत्र अश्वग्रहणभावेऽपि ‘देवास् + सन्ति’ इत्यत्र “सप्तज्ञो रुः” हति रुते “भोभगो” हति यत्वे कृते तस्य पूर्वासिद्धो-यत्वेनासिद्धत्वात् “खरवसानयोविसर्जनीयः” हति विसर्गं सति ‘देवाः + सन्ति’ हति सिध्यतीति चेद् ? न । विसर्गं जातेऽपि विसर्गस्य “स्थानिवदादेशोऽनलिख-धौ” हति स्थानिवदभावेन रुत्वातिदेशे पुनरपि यत्वापत्तेः । कृते चाश्वग्रहणे सकारस्याशत्वाभावान्न यत्वमिति । नच “अनलिखधौ” हति स्थानिवद्वावनिषेध हति वाच्यम् । रोरिति समुदायरूपाभ्यणेनादोषात् ।

प्रश्नः—“उभि च पदे” इत्यस्मिन् सूत्रे पदे ग्रहणं किमर्थं तदुपादय ।

उत्तरम्—पदे इत्यस्याग्रहणे ‘तन्त्रय—ठतम्’ हति स्थितौ उत्तरत्वात् यत्तोपापत्तिः, तद्वारणाय पदे ग्रहणमावश्यकम् । सति च तस्मिन् उत्तरत्वेऽपि तस्य पदत्वाभावान्न तदापत्तिः । न च “क्लक्षणप्रतिपदोक्तशोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्” हति परिभाषया चादिपठितप्रतिपदोक्तस्यैवात्र सूत्रे उत्रो ग्रहणेन सम्प्रसारणतिष्ठन्त्य लाक्षणिकस्य तस्याग्रहणात् तत्रत्योक्तदोषब्यावृत्तौ सत्यां व्यर्थमेव पदेग्रहणमिति वाच्यम् । उत्तरार्थत्वेन तस्य चारितार्थात् ।

प्रश्नः—“द्रूलोपे पूर्वस्य दीर्घेऽणः” अत्र सूत्रे पूर्वस्येति ग्रहणं किमर्थम् ? तदुपादय ।

उत्तरम्—ननु “द्रूलोपे पूर्वस्य” इत्यहिमन् सूत्रे द्रूलोपे हति सप्तमी निदं-शात् “तस्मिन्” हति परिभाषया पूर्वोत्तोपस्थित्या ‘पुना रमते’ इत्यादौ पूर्वस्यैव दीर्घो भविष्यतीति किं पूर्वग्रहणेनेति चेद् ? न । पूर्वग्रहणभावे हि “अलुगुत्तर-पदे” हति सूत्रादुत्तरपदानुवृत्त्या ‘नीरकम्’ ‘दूरकम्’ इत्यादिसमासस्थले पदव दीर्घो भविष्यतीति ‘लोढः, अजर्वाः’ इत्यादौ दीर्घातिक्षेः । तस्मात् पूर्वग्रहणं कर्तव्यमेव । कृते हि तस्मिन् तत्सामर्थ्यात् उत्तरपदानुवृत्तौ समासेऽसमासे च सर्वत्रैव दीर्घः सिद्धतीति दिक् ।

हति स्वादिसन्धिप्रकरणम् ।

अथाजन्तुँलिलङ्गप्रकरणम् ।

प्रश्नः—“मर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्” इत्यनेनैव प्रातिप-दिकसञ्चासिद्धौ समासग्रहणं किमर्थम् ? तदुपादय ।

उत्तरम्—“प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्” इति परिभाषया ‘राजन् + छस्’ ‘पुरुष + सु’ इति समुदायघटक राजन् छस् इत्यस्य पुरुष सु इत्यस्य च प्रत्ययान्ततदादित्वेऽपि राजन् छस् पुरुष सु, इति समुदायस्य प्रत्ययान्ततदादिभिन्नत्वात् “अर्थवद्” इति सुत्रेणैव प्रातिपदिकसञ्ज्ञासिद्धौ स-मासप्रहणं व्यर्थं सत् यत्र समुदाये पूर्वी भागः पर्दं तस्य समुदायस्य प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा चेत् तद्विं समासस्यैवेति नियमयति । तेन ‘ग्रामान्य’ इति वाक्यस्य प्राति-पदिकसञ्ज्ञा न भवतीति फलम् । नच ‘जन्मवान्’ इत्यत्रापि पूर्वभागस्य पदत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न स्यादिति वाच्यम् ? उत्तरस्तु प्रत्ययो न इति निवेशात् । न चैवमर्थस्वीकारेऽपि ‘अयम् इयान्’ इत्यादौ देष इति वाच्यम् ? ‘उत्तरस्तु तत्प्र-कृतिकप्रत्ययो न’ इति निवेशेनादोषात् ।

प्रश्नः—“प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” इत्येव सिद्धे “ड्याप्रातिपदिकात्” इत्यत्र ड्याप्रग्रहणं किमर्थम् ? तद्व सम्यगुपपादय ।

उत्तरम्—रमा गौरी इत्यादौ प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहण-मिति परिभाषया प्रातिपदिकधर्मस्यानयनेन प्रातिपदिकादित्यनैवेष्टसिद्धौ ड्याप्र-हणं व्यर्थं सत् ड्यावन्नादेव तद्वितोत्पत्तिर्थां स्यात् ड्याभ्यां प्राक् मा भूदियेतदर्थं बोधयति । अन्यथा ‘स्वार्थ-द्रव्य लिङ्ग-सङ्ख्या-कारकाणां क्रमशः स्वीकारा’, इति न्यायेन आर्यशब्दात् पूर्वं स्वार्थिकत्वेन कप्रत्यये तत्षापि आकारस्थानिकाका-रस्याभावेन “उदीचामातः स्थाने” इत्यस्याप्रवृत्तौ “प्रत्ययस्थात्कात्” इत्यने-नैव नित्यमित्ये “आर्यिका” इत्येकमेव रूपं स्यात् । कृते हि ड्याप्रग्रहणे तत्सा-मर्थात् पूर्वं दार्पणं ततः कप्रत्यये “केऽनः” इति दृष्टे आकारस्थानिकाकारस्य सत्वेन “ड्यावन्नामातः स्थाने यकपूर्वायाः” इति सुत्रेण वैकल्पिकत्वेन ‘आर्यिका’ ‘आर्यिका’ इति रूपद्वयं सिद्धयति । रक्तवर्णस्त्रीवाचकलोहितशब्दात् “वर्णादनुदा-क्तात्तोपधातो नः” इति छीपः प्राक् कन्त्रप्रत्ययस्य अन्तरङ्गस्य च प्राप्तावृक्तरीत्या प्रथमं छीपि तत्सन्नियोगेन नव्ये च ततः कनि हृष्टे ‘कोहितिका’ इति, वैक-लिपकलोपन्तव्याभावे तु ‘कोहितिका’ इति भवतीति फलम् । अन्यथा स्वार्थिक-कनि ‘कोहितिका’ इति एकमेव रूपं स्यात् ।

प्रश्नः—राम श्रास इत्यत्र “प्रथमयोः पूर्वस्वर्णः” इति शास्त्रम्

“अतो गुणे” इत्यनेन अपवादत्वात् कथं न बाध्यते तत् प्रतिपादय ।

उत्तरम्—राम + अस् हति लिते “अकः सवणे दीर्घः” इत्यनेन सर्वण्डीर्घः प्राप्तः “प्रथमयोः पूर्वसवर्णः” इत्यनेन पूर्वसवर्णदीर्घद्वच प्राप्तः “अतो गुणे” इत्यनेन पररूपं च प्राप्तम् हति, यत्र यत्र अपदान्तादकारादपे हस्ताकारः तत्र तत्र सर्वत्र सवर्णदीर्घस्य क्षचित्त व प्रथमाद्वितीयाद्यथले पूर्वसवर्णदीर्घस्य च प्राप्तिरिति पररूपस्य निरवकाशस्य सकललक्ष्यप्राप्तसवर्णदीर्घस्य बाधकत्वम् । सवर्णदीर्घं बाधेन चारिताध्ये पूर्वसवर्णदीर्घस्य बाधे निरवकाशत्वरूपबाधबीजस्याभावेन न पूर्वसवर्णदीर्घस्य बाधकत्वम् । किन्तु पूर्वसवर्णदीर्घस्यैव परत्वेन प्रावस्थात्प्रवृत्तिरिति । पूर्वं हि अष्टाभ्यायां पाठः—“अतो गुणे” “अकः सवणे दीर्घः” “प्रथमयोः पूर्वसवर्णः” इति अपवादशास्त्रस्य प्राथम्यम्, बाध्यशास्त्रस्य च अनन्तरोत्तरत्वम्, हति पुरस्तादपवादाः—प्राग्वर्तिनो अपवादाः, अनन्तरान्-सन्निकृष्टान्, विधोन् बाधन्ते नोत्तरान् अनन्तरापेक्षया व्यवहितानिति तदर्थः । तथाच “अतो गुणे” हति सूक्ष्मं सवर्णदीर्घमेव बाधते, न तु पूर्वसवर्णदीर्घमिति न दोष हति दिक् ।

प्रकृतः—सम्बुद्धाक्षिस्याङ्गस्य एङ्गहस्तवाभ्यां विशेषणान्नेह है कतरत् कुलेति इयं फक्तिकका युक्तियुक्तमुपपादनीया ।

उत्तरम्—‘येन विना यद्युपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते’ हति न्यायात अङ्गस्याक्षेपः क्रियते । ‘येन यद्याक्षिप्यते तत्तेनान्वेति’ हति नियमानुसारेण सम्बुद्धाक्षिस्य अङ्गपूर्वस्य सम्बुद्धिदेवते अन्वयस्थेचित्तवेन अङ्गात्परा या सम्बुद्धिः तदवयवो हल्लुप्यते, स च हल्लुप्यते अङ्गात्परा या सम्बुद्धिः तदवयवो हल्लुप्यते, सा च सम्बुद्धिरहस्तवाभ्यां परिभूतश्चेदित्यर्थाङ्गीकारे हे कुक इत्यत्र एकदेशविकृतन्यायेन लान्तमागस्याङ्गात्पे परादिवभावेन सम्बुद्धित्वे जाते सति हस्तात्परासम्बुद्धिर्नास्ति हति मलोपो न स्यादिति कवचिदन्येनाक्षिस्य पदार्थस्य अन्यत्रान्वयो भवति । तेन सम्बुद्धाक्षिस्याङ्गस्य पृष्ठहस्तवाभ्यां विशेषणात् तदन्तविधौ पृष्ठसाद्यस्वान्ताङ्गादलुप्यते सम्बुद्धेऽचेद् इत्यर्थः सम्पत्तः । तथाच—प्रकृते कतरदित्यत्र यद्युप्तं तत्र हस्तान्तं, यत् हस्तान्तं तत्त्वाङ्गमिति कतरदित्यत्र हस्तान्ताङ्गस्याभावेन न उलोपापत्तिः । कुलमित्यत्र पूर्वान्तवृभावेन अङ्गमानीय हस्तान्ताङ्गात्परस्य सम्बुद्धयवस्थल्लुप्यते हे कुल इत्यत्र सिद्धिः ।

प्रश्नः—“एङ्गहस्तात् सम्बुद्धेः” इति सूत्रे एङ्गप्रहणं किमर्थमिति दर्शय ।

उत्तरम्—ननु ‘‘एङ्गहस्तात् सम्बुद्धेः’’ इति सूत्रे एङ्गप्रहणाभावे हरिशब्दात् विष्णुशब्दाद्वा सम्बुद्धिसंज्ञकसुपत्यये हस्तात्परत्वेन सुलोपे, ततः प्रत्ययलक्षणेन “हस्तवस्य गुणः” इति गुणे ‘‘हे हरे, हे विष्णो’’ इति हिंद्वाखेलप्रहणं व्यर्थमिति चेद् ? न । हस्तात् परत्वेन सुलोपस्य प्राप्तावपि परत्वेन नित्यतया च “परनित्या-नतरङ्गापवादाभासुत्तोत्तरं लोयः” इति परिभाषानुसारेण “हस्तवस्य गुणः” हस्तवस्य प्राप्तवलयेन गुणे जाते हस्तात्परत्वं नात्तीति सुलोपाऽप्रवृत्तौ, तदर्थमेलप्रहण-स्यावहयकत्वात् ।

प्रश्नः—“यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्” इत्यत्र विधि-ग्रहणं किमर्थम् ?

उत्तरम्—इदप्रश्नशब्दाद्वात् तु पि ‘‘किमिदम्भ्यां वो घः’’ इति वस्त्य स्थाने घादेशे “आयनेयीनीयियः फलखलधार्णं प्रत्ययादीनाम्” इति घस्य स्थाने हृयादेशे हयदिति जाते “हृदं किमोरीदकी” इति हृदमः ईशादेशे तस्य “यस्येति च” इति लोपे “उगितश्च” इति लोपे हृयतीति सिद्धम् । तस्य ऋशब्दसमभिड्याहारे ‘‘स्त्री + हयती’’ हृत्यवस्थायां विधिप्रहणाभावे यस्मात्प्रत्ययः परस्तलिमन्तदङ्गसंज्ञमित्ययेहृयत्प्रत्ययस्य ऋशब्दात्परत्वेन तस्मिन् ऋशब्दस्याङ्गसंज्ञायां ‘‘लियाः’’ हृत्यनेनेयणापत्तिः । तदर्थं विधिप्रहणं कर्तव्यमेव । कृते विधिप्रहणे हृयत्प्रत्यये परे ऋशब्दस्य नाङ्गत्वम् । ऋशब्दात् हृयतोऽविधानादिति दिक् ।

प्रश्नः—“यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्” इत्यत्र ‘प्रत्यये’ इति किमर्थम् ?

उत्तरम्—प्रत्ययप्रहणाभावे ‘देवदत्त ओङ्गरमपाक्षीत्’ हृत्यत्र देवदत्तोत्तरवतिसुपत्ययमवलम्बय देवदत्त ओदनमपाक्षीदिति समुदायस्याङ्गसंज्ञायां देवदत्तात्परंप्रयत्नियं अडागमापत्तिरिति प्रत्यये इति पदं कर्तव्यम् । कृते च प्रत्ययप्रहणे सुप्रत्यये परतः देवदत्तस्यैवाङ्गसंज्ञा भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—“रामांश्च” हृत्यत्र सञ्जिपातपरिभाषा कर्थं प्रवर्तते, तस्या निवारणञ्च कथा रीत्या भवतीति सुधूपपादय ।

उत्तरम्—रामशब्दात् लेभिभक्तो ‘‘छेदेः’’ इति सूत्रेणादस्याङ्गत्वात् परत्वेन

देहस्थ स्थाने यादेशे “स्थानिवदादेशोऽनलिवधौ” इति स्थानिवज्ञानेन यादेशे “षे” वृत्तिसुस्थ्यातिदेशेन “सुपि च” हृत्यनेन दीर्घं ‘रामाय’ हृति विद्धयति । ननु अदन्ताङ्गं निमित्तीकृत्य जायमानो यादेशोऽदन्ताङ्गविद्वातकदीर्घप्रवृत्तिं प्रति निमित्तं नेति “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विद्वातस्थ्य” इति परिभाषया निमित्तत्वं निषेधे कथं दीर्घप्रवृत्तिरिति चेद् ? न । “कष्टाय क्रमणे” हृत्यन्न सुन्नकारकृतदीर्घनिदिवदेशेन सन्निपातपरिभाषया अनित्यत्वज्ञापनेन तस्या यादेशनिमित्तकं “सुपि च” हृति दीर्घविषयेऽप्रवृत्तेः ।

प्रश्नः—“बहुवचने भल्येत्” इति सूत्रे बहुवचने इति ग्रहणं किमर्थं तदुपपादय ।

उत्तरम्—‘बहुवचने ज्ञालयेद्’ इति सूत्रे बहुवचनग्रहणाभावे ज्ञालादौ सुपि अदन्ताङ्गस्थ्य पृत्वं भवति हृत्यथं ‘राम + स्’ हृत्यन्न रामस्य हृत्यन्न च ज्ञालादि सुप्-परत्वेन रामहृत्यदन्ताङ्गस्थ्यत्वं स्यात् । अतः सूत्रे बहुवचनग्रहणमावश्यकम् । न च सर्वत्र पृक्मेव प्रत्युदाहरणं हृश्यते, अत्र प्रत्युदाहरणद्वयं किमर्थमिति वाच्यम् । “स्वैर्जसमौट्” हृत्यन्न “वैर्जसमौट्” इति न्यासकरणेन रामशब्दात् रूप्रत्यये तस्य ज्ञालदित्वाभावेन रामः हृत्यन्न पृत्वाप्राप्त्या रामस्य हृति द्वितीयोदाहरणस्य आव-इयकत्वमित्याशयात् ।

प्रश्नः—“बहुवचने भल्येद्” हृत्यन्न भल्लि ग्रहणं किमर्थं तदुपपादय ।

उत्तरम्—‘उतो वृद्धिर्लुकि हलि’ इति सूत्रात् हलि इति पदमनुवर्त्य रा-माणामित्यन्न हल्परत्वेऽपि सन्निपातपरिभाषया पृत्वं न स्यादिति ज्ञालग्रहणं व्यर्थं-मेव । तदेव व्यर्थं सत् पृद्वं कर्तव्ये सन्निपातपरिभाषा न प्रवर्तते इति ज्ञापयति । पृवं च ज्ञालग्रहणाभावे रामाणामित्यन्न पृत्वं स्यादेवेति स्वांशे ज्ञालग्रहणं चरिता-र्थम् । फलं ज्ञ सर्वेषामित्यन्न पृत्वसिद्धिः । अन्यथा अदन्तसन्निपातेन जायमानः सुट् अदन्तस्थ विद्वातको न स्यादिति दिक् ।

प्रश्नः—रामाणामित्यन्न परत्वात् “सुपि च” इति दीर्घः कुतो न, “नामि” हृत्यनेन सन्निपातपरिभाषा कथं वाऽयते तदुपपादय ।

उत्तरम्—नन्वन्न ‘राम + नाम्’ इति स्थिते “नामि” हृत्यस्य हरीणामि-स्थादौ चरितायेन “सुपि च” हृत्यस्य रामाय हृददौ चरितायेन च तुल्यबलविरो-विना “सुपि च” हृत्यनेन “विप्रतिषेधे परं कार्यम्” इति शास्त्रवलात् दीर्घः स्यात्,

न “नामि” हस्यनेन, इति चेद् । न । “सविनापतलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधा-
तस्य” इति परिभाषया हस्वान्तमङ्गं निमित्तीकृत्य जायमानस्य ब्रुते हस्वान्ताङ्ग-
विधातकदीर्घप्रवृत्तिं प्रति अनिमित्तत्वबोधनेन यजादिस्वधर्मपुरस्कारेण प्रवर्तमानस्य
“सुषिं च” इति शास्त्रस्थाप्राप्तेः । “नामि” इति तु आरम्भसामश्याद् परिभाषां
बाधते हृत्यलम् ।

प्रश्नः—“सर्वादीनि सर्वनामानि” इति सर्वनामसञ्ज्ञा तदन्तस्य
स्यात् वा, स्याच्चेत् तत्र ज्ञापकं किम् ? तदुपपादय ।

उत्तरम्—“सर्वादीनि सर्वनामानि” इति सूत्रे सर्वादीनोति पदस्य शब्द-
स्वरूपमिति विशेष्यमादाय “द्वन्द्वे च” इति सूत्रेण विशेषत्वबोधनेन “येन वि-
धिस्तद्वन्तस्य” इति सूत्रसहाय्ययेन सर्वादीनां सर्वाद्यन्तशब्दस्वरूपाणां च सर्वनाम-
सञ्ज्ञा भवतीति सूत्रार्थः । पूर्वं च सर्वशब्दस्य यथा सर्वनामसञ्ज्ञा तथा परमस-
र्वहृत्यस्यापि । तेन परमसर्वशब्दात् त्र्यल् सिद्ध्यति । पूर्वं सर्वादिगणपदितभवत्
शब्दान्तस्य सर्वनामसञ्ज्ञायाम् अक्षचि परमभवकानिति च सिद्धम् । तदन्तविधय-
भावे ‘वर्णाश्रमेतरा’ हृत्यस्य सर्वादिघटकत्वाभावेनैव सर्वनामसञ्ज्ञाया अप्राप्तौ
तन्निषेधक “द्वन्द्वे च” इति सूत्रं व्यर्थमेव स्यात्, तदेव व्यर्थं सत् तदन्तस्या-
पीयं सञ्ज्ञा हृत्यर्थं ज्ञापयतीति दिक् ।

प्रश्नः—‘सर्वे’ इति रूपं शङ्कानिरासपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—सर्वशब्दस्य “सर्वादीनि सर्वनामानि” इति सर्वनामसञ्ज्ञायां
तस्माज्जसि तत्स्थाने “जसः शः” हृत्यनेन विधीयमानः शः आदेशः शित्वादने-
कालूत्वाद् वा सर्वस्य स्थाने स्यादिति शङ्कायाम् अनेकालूत्वादेव सर्वादेशो न तु
शित्वादिस्त्युच्यते । ननु यथा “अर्वणस्तावनमः” इति सूत्रेण “नानुबन्धकृतमनेशा-
लूत्वम्” इति परिभाषया नकारत्यैव आदेशो जगति, तथैवात्रापि शाकारस्येत्स-
ञ्जायामुक्तपरिभाषया अनेकालूत्वाभावेन शित्वात्सवैदेशः स्यादितिं चेद् । तस्मि-
सर्वादेशे स्थानिन्द्रजावेन प्रत्ययत्वमादाय हृत्सञ्ज्ञायाः प्रवृत्तेः । यावत्सम्पूर्णस्य
स्थाने आदेशो न भवति, तावत् प्रत्ययत्वाभावेन हृत्सञ्ज्ञैव न स्यादित्यलम् ।

प्रश्नः—उभशब्दस्य सर्वादिगणे पाठः किमयः तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु सर्वादिगणे उभशब्दस्य पाठो व्यर्थः । सर्वनामकार्याणां स्या-
यादीनां द्विवचने अभावात् । न च “सर्वनामनः तुतीया च” इति सूत्रेण उभाम्बाणां

हेतुम्याम्, उभयोहेत्वोः इति षष्ठीतृतीया सिद्धिस्तत्कलमिति वाच्यम् । “निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्” इति वातिकेनैव गतार्थत्वात् । न च वृत्तिकृता “सर्वनामनतृतीया च” इति सूत्रे पठितत्वादिदमपि वार्तिकं सर्वनामन एव सर्वविभक्तिज्ञापकं नान्यस्येति वाच्यम् । भाष्ये—“हेतौ” इति सूत्रे तदूत्तरितकस्य पठितत्वात् । अत एव अन्नेन कारणेन वसति, अन्नस्य कारणस्य इत्युदाहृतं हरदत्तेनेति चेद्, न । तत्येष सर्वादिगणे पाठस्तु ‘उभझौ’ इति अकर्जर्थत्वात् । ननु कप्रत्ययेनापि तत्सिद्धेः किमनेनाकर्जर्थपठेन । न च काकचोः स्वरे विशेषोऽस्तीति वाच्यम् । प्रस्यत्वरेण चित्स्वरेण वा अनोदातत्वे विशेषाभावात्, इति चेद्, न । द्विवचनपरत्वाभावेन उभयतः उभयत्र इत्यादाविव अयच्चप्रसङ्गादित्यलम् ।

प्रश्नः—सर्वादिगणे ‘डतरडतम्’ इतिप्रत्यययोः पाठः किमर्थः । तदन्तयोर्ग्रहणे सज्जाविधौ तदन्तविधिः कथमित्युपपादय ।

उत्तरम्—सर्वादिगणे डतरडतमहतिप्रत्यययोर्ग्रहणेन केवलत्य च प्रत्ययस्य प्रयोगाभावे ‘प्रत्ययग्रहणे तदन्तप्रहणम्’ इति तदन्तविधौ डतरप्रत्ययान्तडतमप्रत्ययान्तयोः कतरकतमादिशब्दयोरेव सर्वनामसञ्ज्ञा, नतु केवलयोस्तयोः । न च ‘सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तप्रहणं नास्ति’ “घसिडन्तम्” इत्यन्तप्रहणाज्ञापकात्, तेन तदन्तयोर्ग्रहणं न स्यादिति वाच्यम् । केवलयोः सञ्ज्ञायाः प्रशोजनाभावात् ।

प्रश्नः—“पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्” इत्यत्र व्यवस्थायामित्यस्य कोऽर्थः तस्य प्रयोजनं च किमिति सुधूपपादय ।

उत्तरम्—स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था, तस्य हि अयमर्थः—स्वस्य पूर्वादिशब्दस्य अभिधेयेन—वाच्यायेन नियमेनावधिरेक्षते तादृशो नियमो क्रवस्था तद्वाचिपूर्वादिशब्दानां सर्वनामसञ्ज्ञा भवतीति सूत्रार्थः । पूर्वादिशब्दे उच्चारिते कस्मात् पूर्वः कस्मात् परः इत्यादिनियमेनावधिसापेक्षोऽर्थ इति यावत् । “पूर्वपरावर” इति सूत्रे व्यवस्थापदाभावे कुशलवाचिदक्षिणशब्दस्यापि सर्वनामसञ्ज्ञा स्यात्, सा माभूविति तत्र व्यवस्थाप्रहणम् । कृते तु तस्मिन् कुशलार्थस्य कस्मात् कुशलः इति कदाचित् अवधयपेक्षत्वेऽपि कुशलमात्रप्रतिपादनेच्छोक्तरितदक्षिणशब्दार्थस्य अवधयपेक्षाभावेन । यमेनावधिसापेक्षार्थकत्वाभावात् सर्वनामसञ्ज्ञा च भवतीति ‘दक्षिणः’ इति पृक्मेव रूपम् । यदि च इह असुक्-

स्मात् कुशलः इति अवध्यन्वयसम्भवेन अस्तीह व्यवस्था, तदा ‘अघे ताम्बूल-
रागः, उत्तरे प्रस्तुते च शक्ता, इति प्रत्युदाहरणम् ।

प्रदनः—‘न बहुवीहौ’ इत्यस्मिन् सूत्रे नव्यप्राचीनयोः मतभेदः
कः ? इदं सूत्रं भाष्य कारेण कथं प्रत्याख्यातम् ? तत् प्रदर्शय ।

उच्चरम्—ननु ‘उपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः’ इति वार्तिकेनैव बहुवीहैः
सर्वनामसंज्ञानिषेधे सिद्धे “न बहुवीहौ” इति सूत्रं व्यथंप्, इति वेद् ? न ।
‘न बहुवीहौ’ इति सूत्रस्य बहुवीहौ विकीर्तिं सर्वनामसंज्ञा न इत्यर्थास्वीका-
रेण तस्यावइयकत्वात् । तथाहि-त्वकं पिता यस्य सः त्वत्कपितृकः । अहकं पिता
यस्य सः मत्कपितृकः । युष्मत् सु पितृ सु इति समाप्तात् प्राक् अलौकिकविप्रहवाक्ये
‘न बहुवीहौ’ इत्यनेन सर्वनामसंज्ञा निषिद्धयते । तेन युष्मद्दृग्मच्छडद्वय समाप्तवट-
कल्य सर्वनामसंज्ञाभावात् अकच् न, किन्तु कप्रस्तय एव । तेन त्वत्कपितृकः मत्क-
पितृकः इति च सिद्धयतः । “न बहुवीहौ” इत्यस्य विकीर्तिं इत्यर्थास्वीकारे अलौ-
किकप्रक्रियावाक्ये सर्वनामसंज्ञायाः निषेधाभावेन अकचि सति त्वकत्पितृकः मत्क-
पितृकः इति लौकिके विप्रहवाक्यं इव रामासेऽपि अयोत । न च निमित्तस्य अनु-
यसर्जनस्वस्य विनाशोऽमुखत्वादकृतच्यूहृपरिभाष्या समाप्तप्रागपि सर्वनामता न
भविष्यतीति आच्यम् । तस्याः अनित्यत्वात् । तत्र च एतत्सूत्रस्यैव ज्ञापकत्वात् ।
यथा अतिक्रान्तो भवकन्तं अतिभवकान् इत्यत्र अकृतच्यूहृपरिभाष्या अनित्य-
त्वेन प्रक्रियावाक्ये अकचि सति समाप्तेऽपि तस्य श्रवणमिति सूत्रकारः ।

भाष्यकारास्तु ‘संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः’ इति वार्तिकं स्वीकृत्य प्रक्रि-
यावाक्ये सर्वनामसंज्ञानिषेधाभावेन तत्राकचि समाप्तेऽपि ततश्वणम् । ‘त्वकत्पि-
तृकः, ‘मत्कत्पितृकः, इति रूपे इष्टे स्वीकृत्यन् एतस्सूत्रं प्रत्याचर्यौ । न च वार्ति-
कापेक्षया सूत्रस्य प्राबस्येन वार्तिकेन तत्खण्डनमधुचितमिति वाच्यम् ? “यथो-
त्तरं सुनीर्णं प्रामाण्यम्” इति परिभाषणात् ।

प्रदनः—‘संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः’ इत्यनेन सर्वेषां
गतार्थत्वं कीदृशमिति तत् प्रदर्शय ।

उच्चरम्—‘सर्वादीनि सर्वनामानि’ इति सूत्रे सर्वनाम इति महासंज्ञाकरणेन
तस्याश्चान्वर्थतया सर्वान्वयन्ति सर्वेषां नामानि इति वा विप्रेण प्राधाव्येन—
इतराविशेषणत्वेन, स्वीयसर्वार्थोपल्यापक इत्यर्थलाभात् तादृशसर्वादिगणपतिश-

ब्रानामेव सर्वनामसंज्ञा । सर्वनामसंशोहेष्यसर्वादीनां शब्दानां प्राप्तान्येन स्वीक-
सर्वार्थोपस्थापकानामेव च गणे सन्निवेशेन त्यदादयः शब्दा अपि ताहशा एव पञ्च-
न्ते इति “त्यदादीनामः” इत्यत्वं “तदोःसः सावनन्त्ययोः” इति सत्वम् , “अ-
द्वृतादिभ्यः पञ्चभ्यः” इत्यदडादेशश्च ताहशार्थोपस्थापकशब्दानामेवेति संज्ञाया-
सुपसर्जनत्वे च सर्वादीनां सर्वनामसंज्ञा अत्यं सत्वम् अद्वृदेशश्च न भवन्तीति
क्रमेण सर्वां नाम क श्वत् तस्मै सर्वाय देहि अतिक्रान्तः सर्वम् अतिसर्वः तस्मै
अतिसर्वाय देहि । अतिकरं कुलम् , अतितत् , इत्युदाहरणानि ।

प्रश्नः—“द्वःद्वेच” इत्यनेन सर्वनामसंज्ञानिषेधो द्वन्द्वघटकानां
उत द्वन्द्वसमुदायस्य भवति तदुपपादय ।

उत्तरम्—वर्णाश्च आश्रमाश्च इतरे च वर्णाश्रमेतराः तेषां वर्णाश्रमेतराणामि-
स्यत्र वर्णाश्रमेतर इति समुदायस्य तदन्तविधिना “सर्वादीनि सर्वनामानि” इति
सूत्रेण प्राप्ता सर्वनामसंज्ञा “द्वन्द्वे च” इति सूत्रेण निषिद्धयते ।

ननु वर्णाश्रमेतर इति समुदायस्य प्रकृतसूत्रनिषेधेन सर्वनामस्त्वाभावेऽपि इतर-
शब्दस्य सर्वनामस्तीति ततः परस्याम्बिभक्तेः “आमि सर्वनामः सुट्” इति
सूत्रेण तदन्तविधिना सर्वनामसञ्ज्ञकेतरशब्दाभ्यादङ्गात्परत्वेन सुडागमापत्तिरिति
चेद् । तत्र सूत्रे सर्वनामः इति पञ्चम्या विहितविशेषणस्वस्वीकारेण अवर्णा-
न्तादङ्गात्परस्य सर्वनाम्नो धिहितस्यामः सुट् भवतीत्यथेनात्र इतरशब्दात् विहि-
तत्वाभावेन तदप्रवृत्तिः ।

प्रश्नः—जरसादेशविषये वृत्तिकारस्य कोऽभिप्रायः भाष्यकाराणां
तदभिमतं नवेति तदुपपादय ।

उत्तरम्—जरसादेशात् विभक्त्यादेशाः पूर्वविप्रतिषेधेन भवन्तीति स्वीकृत
सन्निपातपरिभाषायाश्च “अतो भिस पेस्” इति सूत्रे ऐसकरणसामर्थ्येन जरसादे-
शाविषये अनित्यत्वमाश्रित्य निर्जरूपशब्दात् तृतीयैकवचने टाप्रत्यये पञ्चम्यैकवचने
क्षसिप्रत्यये वा “टाळसिङ्गसामिनात्प्रत्ययः” इत्यनेन इनादेशे आत् आदेशे च कृते
सन्निपातपरिभाषायाः अनित्यत्वात्प्रत्यया अप्रवृत्या जरसादेशे कृते निर्जसिन निर्ज-
सात् इति रूपः न तु निर्जसा निर्जरसः, इति केषांविश्वसं वृत्तिकारेणोक्तम् ।
तथा भिसि परे जरसादेशात्पूर्वै भिसः स्थाने पेसादेशे ततो जरसि निर्जसैरिति
स्वप्राप्तशद्वक्तम् । तदनुसारिभिसि षष्ठ्यैकवचने दृशः स्यादेशे अजावित्वाभावेन जस-

सादेशाप्रवृत्या निर्जरस्येत्येवं रूपं स्वीकृतम् । पृतच्च भाष्यविद्वद्म् । तथाहि—“टा-
डसिङ्गसाम्” इति सूत्रे हनातौ प्रत्यारूपाय नादेशमदादेशच्च विधाय नादेशो परे
पत्त्वम् “आहि चापः” इत्यत्र “आहि च” इति योगं विभज्य साधितम् । त-
थाच “निर्जरसिन” ‘निर्जरसात्’ हृत्येतद् भाष्यविद्वद्मिति स्पष्टम् ।

प्रश्नः—‘यूषणः’ इत्यत्र स्थानिवद्भावेनाकारव्यवधानात् “रथा-
स्याम्” इति णत्वं कथं स्थानिदिति तदुपपाद्य ।

उत्तरम्—यूषन् शब्दात् श्रसि ‘यूषन् + अस्’ इति लिथते अत्र भपञ्जा-
याम् “अल्लेपोडनः” इति अलेपे कृते यूषन् + अस् इति जाते तत्र “अचः पर-
स्मिन् पूर्वविधौ” इत्यनेन सूत्रेण पूर्वस्माद् विधिः पूर्वविधिरिति पञ्चमीसमासपत्ते
परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवस्यात् ; स्थानिभूतादच्चः पूर्द्धत्वेन हृष्टाद्वाणीत्परस्य
विधौ कर्तव्ये स्थानिवदिति । पूर्वत्वेन हृष्टात्वकरात् परस्य नकारस्य णत्वे कर्तव्ये
स्थानिवद्भावेन अकारव्यवधानेन “रथाभ्यां नो णः समानपदे” इत्यस्य न प्रवृत्तिः,
अपि तु “अट्कुप्वाळुम् व्यवायेऽपि” इत्यस्य अड्व्यवायेऽपि प्रवृत्या णत्वम् ।
न च वैपादिकार्थे कर्तव्ये स्थानिवद्भावो न भवनीति “पूर्वत्रासिद्धीये न स्था-
निवत्” इति स्थानिवद्भावनिषेध इति वाच्यम् । “तत्य दोषः संयोगादिलोपल-
त्वाणत्वेषु” इत्यनेन णत्वे कर्तव्ये तत्प्रतिषेधात् । यदि पञ्चमीसमासो न विवक्ष्यते,
तदा स्थानिवद्भावाऽप्रवृत्या “रथाभ्याम्” इति णत्वम् ।

प्रश्नः—“पद्मदन्तेमास” इति सूत्रे प्रभृतिग्रहणं किमर्थम् ?

उत्तरम्—“पद्मनोमासहनिनसा” इत्यलिमन् सूत्रे प्रभृतिपदस्य प्रकारोऽर्थः ।
प्रकारः—सादृश्यम्, तच्च सुपत्त्वधर्मेण । तथाच-यत्र सुपत्त्वं स्यात्तत्रादेशा भव-
न्नित । एवज्ञ दोषशब्दस्य न पुंसकलिङ्गे औडः इयादेशो दोषननादेशो भवति । अत
एव ‘ककुदोषणी’ इति भाष्योदाहरणं सङ्घच्छते । “एवज्ञ प्रभृतिप्रहणस्य प्रकारार्थ-
त्वेन ‘पद्मग्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्’ इत्यादौ सुविभक्तौ परे पदशब्दस्य पदादेशः सि-
द्धयति । अस्यथा शासादावेव स्यात् । तेन उक्तभाष्योदाहरणम्, ‘पद्मग्रिश्चरण’
इत्यमरकोषस्थं पद् इति रूपञ्चासङ्गतं स्यात् ।

प्रश्नः—“आतो धातोः” इत्यत्र धातोरितिपदोपादानात् “क्त्वः”
‘इनः’ इत्यत्र आकारलोपः कथं तदुपपाद्य ।

उत्तरम्—“आतोः धातोः” इत्यत्र आतः इति धातोः इति च सुत्रं विभ-

ज्यते । तत्र 'आतः' इत्यस्य आकारान्तभसम्भावाङ्गान्तस्यस्य लोप इत्यर्थः । कस्तवाइनाप्रत्ययानुकरणक्तवाइनाशब्दाभ्यां शसि भसम्भावां पूर्वयोगेनाकारलोपः । ततो 'धातोः' इति । अस्य तु आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गान्तस्य लोपः स्यादित्यर्थः । 'विशेषः' 'शहून्मः' इत्याद्युदाहरणम् । च चैव 'हाहान्' इत्यथापि पूर्वसूचेणाकारलोपापत्तिरिति वाच्यम् । एवं सति सर्वं चैव पूर्वसूचेणाकारलोपसिद्धे-रुपरसूचस्य वैयाक्यं तत्सामर्थ्यात्पूर्वसूचस्य काचित्कस्तवबोधनेनानिष्टस्थलेऽप्रवृत्तोः ।

प्रश्नः—"शेषो ध्यसखिं" इत्यत्र पूर्वसूचगत 'यू' इति अनुवर्तते, तस्य किं फलम् ।

उत्तरम्—युध्यणभावे अदन्तशब्दे हनोदेशादिना बाधात् चिसम्भाफलस्य नाभावदेन प्रवृत्तिः । क्रदन्तशब्दे च "क्रतो डिसर्वनामस्थानयो" इति सूचे, छिप्रहणेन छित्सु क्रदन्तस्य गुणदिवेत्तर्हि हावेतेति नियमेन गुणादिनै भविष्यतीति युध्यणफलं परिच्छेत्वा चक्रमात्रशब्दात् दाविभक्तौ परे नाभावाभाव इत्यक्तम् ।

प्रश्नः—"हत्तुड्याद्य्यो दीर्घात्सुतिस्यपृकं हल्" इति सूचे प्रथ-महल्यहणं किमर्थं तद्व वद । १७५३८८

उत्तरम्—ननु 'राजन् + स्' इत्यवस्थायां सकारस्य "संयोगान्तस्य लोपः" इति सूचेण लोपे सिद्धे नस्य "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इति सूचेण च सिद्धे 'राजा' इत्यादिपदानां सिद्धौ किं हल्यहणेति चेद् ? न । "नलोपः प्रातिपदिका-न्तस्य" इति सूचेण नलोपे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वेन प्रातिपदिकान्तन-कारस्याभावात् नलोपानापत्तेरिति दिक् ।

प्रश्नः—सुसखिशब्दस्य धिसम्भावा भवति न वा तदुपपादय ।

उत्तरम्—"शेषो ध्यसखिं" इति सूचे 'असखिं' इति पदस्य वर्णसम्भापत्ते सखिभिन्नावयवौ याविदितौ तयोर्बिसम्भैत्यर्थः । तथाचात्र सुसखिशब्दस्य सखिभिन्नत्वेन तदवयवस्य इकारस्य धिसम्भावां नादेषो च 'सुसखिना' इति सिद्धम् । सखिभिन्नं यद् इकारान्तसुकाराभ्यं तस्य धिसम्भैति तदन्तपञ्चेऽपि सुसखिशब्दे समुदायस्य 'सुसखिं' इत्यस्य सखिभिन्नत्वात् सुलभैव धिसम्भावा । भाष्यकृन्मते तु प्रकृते धिसम्भावैव लभ्यते । सखिशब्दस्य नदवयवे लक्षणया सखयवयवभिन्नयो-रिहुतोः तयोर्वा बित्वम् इत्यथें सुसखिवटक इकारस्य सखयवयवस्वेन तदभिन्नत्वा-भावात् सूधाप्रवृत्तेरिति दिक् ।

प्रश्नः—“त्यदादीनाम्” इति सूत्रे त्यदादिगणः द्विपर्यन्तानामेव गृह्णते, भाष्यव्यच्चनात् । तदस्वीकारे को दोषः, तद् वद ।

उत्तरम्—“त्यदादीनाम्” इत्यस्मिन् सूत्रे त्यच्छब्दादादम्य सर्वेषां शब्दानां ग्रहणे भवच्छब्देऽपि “त्यदादीनाम्” इति सूत्रेण तकारस्याकारे नलोपादिकायेच कृते भवा हस्यनिहृष्टं रूपं स्थानन्तु भवानिति । भवच्छब्दस्य त्यदशब्दात्प्राक् पाठे कृते भवानिति रूपे सिद्धेऽपि “त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते” इति वातिके भवदादीनां मिथः इति पाठेनोक्तवातिकेन स च भवांश्चेति विग्रहे तदशब्दस्यैकशेषे भवन्ताविति रूगसिद्धिरिति द्विशब्दपर्यन्तमेव त्यदादेर्घ-णमिति दिक् ।

प्रश्नः—दुर्धिया वृश्चिकभियेत्यादौ गतिकारकपूर्वकत्वात् यणा भाव्यमिति दुर्धिया वृश्चिकभिया इत्यादौ इयङ् कथमितिदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु दुरित्यस्य ध्याधातुयोगे “गतिश्च” इति सूत्रेण गतित्वात् वृश्चिकभीरित्यन् “वृश्चिकाद्वाः वृश्चिकभीरिति समासघटकवृश्चिकशब्दस्यापादानामत्वेन कारकत्वाच्च “गतिकारकत्वर” इतिवार्तिकेन गतिपूर्वकत्वात् कारकपूर्वकत्वाच्च “एतनेकाच्चैतोऽहस्यनेत यणस्यादिति चेद् ॥ न । यत् क्रियायुक्ताः प्रादयः तस्मप्रत्येक गत्युपसर्गसञ्ज्ञाः इति वचनात् । दुःस्थिता धीर्यस्य-दुःशब्दार्थस्य दुष्टत्वस्य, स्थाधात्वयेऽन्वयेन ध्याधात्वयेऽन्वयाभावेन च गतित्वाभावात् । वृश्चिकभियेत्य-त्रापि वृश्चिकत्व्य भीः वृश्चिकभीरिति सम्बन्धसामान्यषष्ठ्या समासेन कारकत्वाभावात् “गतिकारक” इति गतिकारकत्वपूर्वपदत्वात् यणोऽभावः सिध्यतीति दिक् ।

प्रश्नः—नप्त्रादिग्रहणस्य व्युत्पत्तिपदे नियमार्थत्वं कथम्, उद्गातृशब्दस्य दीर्घत्वं च कथं तदुपपादय ।

उत्तरम्—“अप्त्रनृत्वच्चस्वसृन्सृनेष्टृत्वशब्दैर्होतृपोत्प्रशास्तृणाम्” इति सूत्रे “उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि” इति पक्षे नप्त्रादीनां शब्दानां तृत्वन्तत्वात् तृत्वन्तत्वाच्च तृत्वशब्दणेनैव दीर्घसिद्धया नप्त्रादिग्रहणं सिद्धे सति आरभ्यमाणो विजिनियमाय भवतीति विद्वान्तात् नियमार्थम् । नियमस्य सजातीयापे-क्षत्वात् उणादिनिष्पन्नानां तृत्वन्नानां चेद् भवति, तर्हि नप्त्रादीनामेवेति नियम-यति, तेन पितुभातप्रभृतीनां नेति फलितम् । नचैवम् उद्गातृशब्दस्याध्युणादिनिष्पन्नतया तस्यापि दीर्घो न स्थादिति वाच्यम् । “समर्थ” सूत्रे “उद्गातातः” इति भा-

स्वप्रयोगदर्शनेन भाष्यप्रामाण्यात् तस्य निषेन व्यावृत्यभावकलपनात् ।

प्रश्नः—‘प्रकृतिवदनुकरणम्’ अस्थाशयो युक्तियुक्तं सोदाहरण-
खोपपादनीयः ।

उत्तरम्—“वत्तेभ्यः परिमाणे वतुप्” हति सूत्रे एतेभ्यः इत्यत्र त्यदाय-
त्वकरणादनुकरणस्य प्रकृतिवत्वमिति ज्ञापयति—‘प्रकृतिवदनुकरणम्’ हति । प्रकृत्या
नुकार्येण तु तद्यथैः । तत्रैवैकशेषोऽदर्शनात्मिक्यः इत्यादौ धात्वनुकरणे
विभक्तिकरणाच्च वैकल्पिकत्वमपि प्रकृतिवदनुकरणस्यायात् म् । तेन कीः, किंतौ, किरः,
कृः क्रौः क्रौः, हति च सिद्धन्तिः । नच अनुकरणस्य अर्थवत्वाभावात्प्राप्तिपदिकत्वं च
स्थादिति वाच्यम् । अनुकरणस्य अनुकार्यशब्दरूपार्थं नार्थवत्वात्प्राप्तिपदिकत्वस्य
सुलभत्वात् । नचैव ‘भू सत्तायाम्’ इत्यादावपि विभक्त्यापत्तिरिति वाच्यम् ।
एतम्भिन्देशादेव क्वचिदनुकरणाद्विभक्त्यनुत्पत्तोरपि स्वीकारात् ।

प्रश्नः—“ओतो णिदिति वाच्यम्” इत्यत्र विहितविशेषणस्य
फलं वद ।

उत्तरम्—“ओतो णिदिति वाच्यम्” इत्यस्य हि ओकारान्तात्परं सर्वना-
मस्थानं णिदिति व्याख्याने हि भानुशब्दात्सम्बुद्धौ “हस्तस्य गुणः” इत्योकारे
गुणे सोरोकारात्परत्वेन णिदिति वृद्धावौकारे एषः परत्वाभावेन सुलोपाप्रवृत्तौ रूत्व-
विसर्गयोः ‘हे भानोः’ हति स्थाव—अतो विहितविशेषणमाश्रयणीयम् । कृते च
विहितविशेषणे सु त्यस्य ओकारान्ताद्विहितत्वाभावेन च णिदित्यावप्रसक्तिरिति ।
ननु ‘हे भानो’ इत्यत्र यदि वृद्धिः स्थान्तदा “पूर्णहस्तात्” हति सूत्रे पृग्रहणमेव
कृत्यादिति प्रत्याहारप्रहणसामर्थ्यात्सम्बुद्धिनिमित्तकौकारस्य वृद्धिर्न भविष्यतीति
कल्पनेन ‘हे भानो’ इत्यत्र न कोऽपि दोष हति मास्तु विहितविशेषणमिति चेद् ?
न । भानुशब्दाज्जसि “जसि च” हति गुणे ‘भानो + असू’ हति स्थिते ओतोः
परत्वाणिणद्वित्वे वृद्धौ आवादेतो ‘भानावः’ हति रूपापत्तेः । अतो विहितवि-
शेषणमाश्रयणीयमेवेति दिक् ।

इत्यजन्ताः पुँछिङ्गाः ।

अथाजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

प्रश्नः—‘हे रने’ अस्य सिद्धिः प्रदर्शनीया ।

उत्तरम्—‘रमा + स्’ हति निष्ठते प्रतिरोक्तवेन शीश्रोपत्थितिकत्वात्

हृष्णादिलोपास्प्रागेव “सम्बुद्धौ च” हृष्येत्वे “हृष्णाभ्य” हृष्यत्र दीर्घाकार-
प्रश्लेषण स्थानिवत्वाप्राप्त्या तेन लोपाप्रासौ “एहृष्णात्सम्बुद्धेः” हृष्यमेतैव कोपे
हे रमे इति सिद्धयति । न च सन्निपातपदिभावावलात् सम्बुद्धं निमित्तोऽन्त्य
जायमानस्यैत्वस्य सम्बुद्धिविवातकं प्रत्यनिमित्तक्षत्वेन लोपो न स्थादिति वाच्यम् ।
“कष्टाप्रक्रमणे” “न भासयोः” हृष्यादिनिर्देशात् तस्याः अनित्यत्वेनान्न प्रवृत्या
सम्बुद्धिलोपे बाधकाभावादति दिक् ।

प्रश्नः—सर्वासाम् हृष्यत्र सर्वा आमिति द्विधते सर्वाशब्दस्य स-
र्वादिगणपदितत्वाभावेन सर्वनामत्वाभावात् सर्वनामप्रयुक्तसुडागमः
कथं तदुपपादय ।

उत्तरम्—नमु सर्वशब्दात् शापि पष्ठयेकश्चनविक्षायाम् आमि, सर्वा + आ-
मिति जाते अभावन्तसर्वाशब्दस्य सर्वादिगणे पाठाभावात् असर्वनामत्वेन सर्वासा-
मित्यादौ सुट् न स्थादिति चेद् ? न । पूकादेशशूल्यानिवित्तसमुशायवृत्तिसर्वना-
मत्वस्यैकादेशविशिष्टे अतिदेशोनाबन्नस्य सर्वेत्यस्य सर्वनामत्वात् सुडागमस्य छक-
भत्वादित्यकम् ।

प्रश्नः—“असंयुक्ता ये डलकास्तद्रुतां हृष्वो न” इति वार्तिकमपूर्वं
न वेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“डलकवर्ता प्रतिषेष्ठो वक्षव्यः” इदं वार्तिकम् “अम्बार्थं द्वयक्ष-
रम् यदि” हृष्यनेन भगवता भाव्यकारेण प्रत्याख्यातम् । तथाच प्रत्याख्यानपदे
“हे अद्वक” हृष्यादौ दृष्ट्वो भवति, वार्तिकसत्तायां तु हृष्वो न भवतीति फङ्गभेदवा-
रणाय वार्तिकसत्त्वेऽपि “असंयुक्ता ये डलकास्तद्रुतां प्रतिषेष्ठो वक्षव्यः” हृष्यर्थोऽ-
वदयं कार्ये । एवम् “असंयुक्ता ये डलकास्तद्रुतां हृष्वो न” इति नापूर्वं वार्तिकम् ,
किञ्चु फङ्गितमेवेति दिक् ।

**प्रश्नः—यद्यपि जरसादेशास्य स्थानिवद्वावेन आवन्ततामाधित्य
“ओङ आपः”** इयं फङ्गिकका युक्तियुक्तमुपपादनीया ।

उत्तरम्—जराशब्दात् औङि, आङि, छे, ओसि, आमि, हौ च परतः वि-
भक्त्यादेशेभ्यः परत्वात् जरसादेशेऽपि तस्य स्थानिवद्वावेन आप्तवस्थाल्मात्र-
वृचित्वाभावादविविष्टाविति निषेषाप्रवृत्तेरावन्ततया “ओङ आपः” “आ-
हि आपः” “याढापः” “हृष्वनयापः” “केराम्” इति पञ्चसूत्रैः ‘श्री’स्थाया-

देशापत्तिवद्यपि प्राप्नोति, पृथं नासिका-निशा-पृतना शब्दानां स्थाने “पहम्न” हृति “मांसपृतमासानूनाम्” हृत्यनेन च नस् , निश् , पृत् , आदेशेषु सत्सु तत्रापि स्थानिवद्धावेन ‘शी’त्याचादेशापत्तिः, तथापि “औङ आपः” हृत्यादिपूर्वोक्तसूत्रेषु आप्पदे आकारात्पूर्वं सर्वण्डीधेणाकारं प्रविलिप्य आकाररूपो य आप तदन्तादञ्जा-दिति सर्वत्रार्थस्वीकारेणाप्त्वे “अनलिवधौ” हृत्यस्याप्रवृत्तावपि आप्त्वस्य आमा-त्रवृत्तिर्थमत्वेन “अनलिवधौ” हृति निषेधात्स्थानिवद्धावेन आद्वमानेतुमशक्यत्वेन तत्स्थूलाप्रवृत्त्या न ‘शी’त्याचादेशापत्तिः । न च “हलड्याभम्यो दीर्घां” हृति सूत्रेऽपि आप्पदे छीपूपदे च आकाररूप ईकाररूप च प्रश्लेषात् आकाररूपाबन्तात् ईकाररूपङ्गयन्तात् परम् हृत्यथेन ‘अतिखट्वः’ ‘निष्कीशामित्रः’ हृत्यन्न “अनलिवधौ” हृति निषेधात् आप्त्वस्य ईत्यस्य च स्थानिवद्धावेन आश्रयणासम्भवात् “हलड्याप्” हृति सूत्रस्याप्राप्तौ दोषवारणेन तदर्थं सूत्रे दीर्घप्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम् । तस्यैवं प्रत्याक्षानसम्भवात् , हष्टत्वाच्च ।

ननु सर्वत्राप्पदे आकारप्रश्लेषेण आप्त्वस्य “अनलिवधौ” हृति स्थानिवद्धाव-निषेधेऽपि अतिखट्वाय हृत्यन्न स्वाश्रयम् आकारत्वं स्थानिवद्धावेन आप्त्वं चाश्रि-त्य “याढापः” हृत्यनेन याढागमापतिरिति चेद् ? न । ‘आपः’ हृति पञ्चम्या ‘अ-ञ्जाधिकारे पञ्चम्या यदुच्यते विहितविभक्तेस्तद् भवतीति सिद्धान्तात् विहित-विशेषणत्वमाश्रित्य आपः प्रत्ययप्रहणतया “प्रत्ययप्रहणे यस्मात्स विहितः” हृति परिभाषैकवाक्यतया आप् यस्माद्विहितस्तदादि तदन्तं यदङ्गं तस्माद्विहितस्य लि-त्प्रत्ययस्य याट् स्यादिति “याढापः” हृति सूत्रार्थस्वीकारेण अतिखट्वा हृत्यस्मात् छे प्रत्ययस्य विहितत्वेऽपि तस्याबन्ततदादित्वाभावेन खट्वा हृत्यस्याबन्ततदा-दित्वेऽपि ततो छेप्रत्ययस्य विहितत्वाभावेन “याढापः” हृत्यस्याप्रवृत्त्या आप-त्यभावात् । न च परमखट्वायै हृत्यन्नापि अतिखट्वा हृतिवत् याटा न भाव्यमि-ति वाच्यम् । “सत्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेन” हृत्यनुपसर्जनसत्रीप्रत्यये तदादिनिय-माभावादित्यलम् ।

प्रश्नः—प्रियास्तिक्षो यस्य तत्कुलमिति विग्रहे त्रिशब्दस्य स्त्रि-यां विद्यमानत्वेन तत्र तिस्त्रादेशो भवति न वा तदुपपादय ।

उत्तरम्—प्रियास्तिक्षो यस्य तत्कुलमिति विग्रहे त्रिशब्दस्य स्त्रियां विद्यमानत्वेऽपि “त्रिक्षुरोऽस्त्रियां तिस्त्रृतस्य” हृत्येन तिस्त्रादेशो न भवति । सक्त-

प्रियत्रिशब्दात्परस्य सोः “स्वमोर्नुसकात्” इति लुकि तस्य “न लुमताङ्गस्य” हृति निषेधात्प्रत्ययलक्षणभावेन विभक्तिपरत्वाऽभावात् । यदि “इकोऽचि विभक्तौ” हृत्यत्राचिग्रहणेन “न लुमताङ्गस्य” हृत्यस्य अनित्यत्वमाश्रीयते, तदा “प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्” हृति प्रत्ययलक्षणसत्वेन विभक्तिपरत्वात्तिखारेशे “प्रियतिसु” हृत्यपि रूपम्भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—‘अस्त्रीति तु इयङ्गुवङ्गस्थानावित्यस्यैव पर्युदासः, तत्सम्बद्धस्यैवानुवृत्तेर्दीर्घस्यायं निषेधो; न तु हस्वस्य’ अस्याः प्रक्रिकाया आशय उपपादनीयः ।

उत्तरम्—“डिति हस्वश्च” हृत्यत्र इयङ्गुवङ्गस्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावृदूतौ नदीसञ्ज्ञौ वा स्तः इति प्रथमं वाक्यम् । हस्वाविवरणोवर्णोऽस्मियां नदीसञ्ज्ञौ वा स्तः, इति द्वितीयं वाक्यम् । तत्र द्वितीयवाक्यात् अतिस्त्रिशब्दस्य छित्सु नदीत्वविकल्प हृत्यर्थः । ननु “नेयङ्गुवङ्गस्थानावस्त्री” हृत्यतः अस्त्रीत्यस्यानुवृत्तेः कथमिह नदीत्वविकल्प इति चेद् ॥ न । ‘अस्त्री’ हृति तु इयङ्गुवङ्गस्थानावित्यादिप्रथमवाक्यविहितनदीत्वस्यैव पर्युदासो, न तु हस्वावित्यादिद्वितीयवाक्यविहितनदीत्वस्यापि, तत्सम्बद्धस्यैवानुवृत्तेः । तथाहि—“नेयङ्गुवङ्गस्थानौ” हृत्यतोऽस्त्रीत्यस्यानुवृत्तिर्दीर्घव्याप्तिः । ततश्च “इयङ्गुवङ्गस्थानौ” हृति यत्रान्वेति, तत्रैव तत्सम्बद्धस्य अस्त्रीत्यस्यानुवृत्तिर्हचिता । एवङ्ग-हस्वादिवाक्ये इयङ्गुवङ्गस्थानावित्यस्य अनुवृत्यभावात् अस्त्रीत्यस्यापि तत्र नानुवृत्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—वृत्तिकारादीनां मते नित्यस्त्रीत्वमुपपाद्य प्रधीशब्दस्य रूपम् कीदूक् भवति, कैयटमते नित्यस्त्रीत्वं कथं, तन्मते प्रधीशब्दस्य रूपम् कीदूग् इति उपपादनीयम् ।

उत्तरम्—वृत्तिकारादीनां मते—पदान्तरं विनाऽपि—पदान्तरसमभिव्याहाराभावेऽपि, श्लियां वर्तमानत्वम्—यः शब्दः श्लीरूपार्थोधकः, नित्यस्त्रीत्वम्—सः नित्यस्त्रीलिङ्गः हृत्यर्थः । अत एव आधीशब्दाम् आधीशब्दस्य ‘आधै’ हृतिरूपमाभिसम्भाष्ये । श्लियामेव यो वर्तते स एव नित्यस्त्रीलिङ्गः हृत्यम्युपगमे तु तदसङ्गतिः हृष्टैव । आधीशब्दस्य क्रियाशब्दतया श्रिलिङ्गत्वात् । अतः पदान्तरं विनापि श्लियां वर्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वम् । इदं तु प्रधीशब्दस्य सम्भवत्येव, प्रकल्प इयानुस्वर्णं विनिश्चीकृत्य स्त्रियां वृत्तिसम्भावं । एवम् प्रधीशब्दस्य वृत्ति-

कारादीनां मते लक्ष्मीवद्रूपम् । लिङ्गान्तरानभिधायकत्वं नित्यस्तीत्वमिति कैवट-
मतम् । ‘स्त्रीविषयावेद यौ यू तयोरेव नदीसंज्ञा’ इति ‘यू स्त्रियाक्षी नदी’
इत्यत्र भाष्यादिति तदाशयः । तन्मते डाहुतप्रधोशबद्दत्य—प्रधायतोति प्रधी-
शब्दत्य, विलिङ्गतया नित्यत्रोत्तवाभावात् तुलोव लिप्यमपि अनदोत्तवात् तुलद्रू-
पम् । प्रहृष्टा चीरिति विषये प्रादिसमासे प्रधीशब्दत्य मतद्वयरोत्पापि नित्यस्ती-
लिङ्गत्वात् लक्ष्मीवद्रूपमिति यावत् ।

प्रश्नः—‘एकाजुतरपदे णः’ इत्यत्र णकारप्रहणं किमर्थम् ?

उत्तरम्—नन्विह णकारपहणं व्यर्थम् । ‘रथाभावं नो णः’ इत्यत एव
तदनुहितिसिद्धेः । न च “प्रातिपदिकान्ततुम्बिभक्तिः च” इति विकल्पनितृत्यर्थे
पुनर्नयहगमिति वार्यम् । आरम्भसामर्थयोदेव नित्यत्वसिद्धेरिति चेद् । न । पुन-
र्मग्रहणत्य स्पष्टार्थेत्वात् ।

इत्यजन्तव्योलिङ्गाः ।

अथाजन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

प्रश्नः—‘ममि लुकोऽपवादमम्भावं वाचित्वा परत्वाजजरस्,
ततः सञ्जिपातपरिमाषथा न लुक्’ मस्याः फक्षिककावा भाशया वि-
शद्दनीयः ।

उत्तरम्—‘अजर + अम्’ इति स्थिते “स्वमोर्नपुंसकात्” इति लुक् प्राप्तसर्तं
चाचित्वा तदपवादः “अवोऽम्” इत्यमावः प्राप्तः, ते वाचित्वा “विप्रतिषेधे परं
कार्यम्” इति परत्वाजजरस् । न च लुगपवादक्षयापादमावत्यं जरसादेवेन वाचित्वाद्
अपवादे निषिद्धे पुनर्हत्सर्गत्य लित्यतिः । इति न्यायात् अमो लुक् स्वादिति वा-
चयम् । जरसादेशानन्तरम् असञ्जिपातमाश्रित्य प्रवृत्तत्य जरसो अमो लुकि नि-
मित्तत्वाभावादित्यक्षम् ।

प्रश्नः—“हस्तो नपुंसके प्रातिपदिकस्य” इत्यत्य झीववद्यर्थे वर्त-
मानस्याजन्तस्येत्येव सामर्थ्यात्प्रातिपदिकलामे सिद्धे सुत्रे पुनः प्रा-
तिपदिकप्रहणं किमर्थमिति तदुपपादय ।

उत्तरम्—‘हस्तो नपुंसके प्रातिपदिकस्य’ इत्यत्य झीववद्यर्थे वर्तमानस्या-
मर्थ्यस्येत्येव सामर्थ्यात्प्रातिपदिकलामे सिद्धे प्रातिपदिकपहणं सत्यप्रवानार्थम् ।

सत्यप्रधानत्वम्—स्वविशिष्टत्वम् । वैशिष्ट्यम्—स्वघटितत्व, स्वर्थासप्रयोजकता-
निरूपितप्रयोज्यतावत्प्रधानतानिरूपिता या अप्रधानता तदसमानाधिकरण किङ्-
संक्षयानिष्ठप्रकारतानिरूपिता या विशेष्यता तत्प्रयोजकघटितत्वपत्तुभयसम्बन्धेन ।
‘श्रीपा’ इत्यस्य तत्प्रस्तुति, अत्र स्वं पा इति तत्पर्यासप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्य-
तावती श्रीपारक्षणकर्तृनिष्ठा प्रधानता तन्निरूपिताप्रधानता क्रियाकर्मभावनिष्ठा
किङ्-संख्यानिष्ठप्रकारतानिरूपिता विशेष्यता तत्प्रयोजकत्वं ‘श्रीपा’ इत्यस्य तद्-
घटितत्वं ‘श्रीपा’ इत्यल्लेति लक्षणसमन्वयः ।

प्रश्नः—‘श्रीपाय’ इत्यत्र “आतो धातोः” इत्याकारलोपस्य सञ्चित-
पातपरिभाषया कथं वारणं कृतम्, तदुपपादय ।

उत्तरम्—श्रीपाशब्दस्य “हृस्वो नर्तुसके प्रातिपदिकस्य” इति हस्त्वये
देवदेवो “सुपि च” इति दीर्घे “श्रीपाय” इति सिद्धम् । सञ्चिपातपरिभाषा तु
“कषाय क्रमणे” इति निर्देशात् न प्रवर्तते । नन्यत्र हस्त्वये कृतेऽपि प इत्यस्य
एकदेशविकृतन्यायेन धातुत्वान्यायात् दीर्घे कृते आकाराभृतत्वाच्च “आतो धातोः”
इत्यादल्लोपः स्यात्, यादेशस्य व्यतो यकारादितया स्थानिवस्येन स्वादिप्रत्यय-
तया च सत्त्विन् परे भत्वस्यापि सत्वादियि चेद् ? न । सञ्चिपातपरिभाषाविरो-
धात् । तथाहि—हस्त्वत्वमर्णत्वं च समुदितं यादेशस्य उपजीडयम् । तत्र कषायेति
निर्देशात् सन्निपातपरिभाषां बाधित्वा कृतेऽपि दीर्घे हस्त्वत्वांश पत्र निवृत्तः । अ-
वर्णस्वाक्षास्त्वभुवृत्त एव । तत्प्राप्यादल्लोपेन निवृत्तौ उपजीडयविधातः स्यादेवेति
भवेदेव सन्निपातपरिभाषाविरोधः इति दिक् ।

बस्तुतस्तु “आतो धातोः” इत्यत्र “लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव
ग्रहणम्” इति परिभाषया प्रतिपदोक्त-आकारस्य ग्रहणात् प्रकृते आकारस्य काष-
णिकस्येन न लोपप्रसक्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—“न लुमताङ्गस्य” इति निषेधस्यानित्यत्वेन ‘हे वारे, हे
वारि’ इति भवति, तत्र “न लुमताङ्गस्य” इत्यस्यानित्यत्वं कथम् ?
तदुपपादय ।

उत्तरम्—हे वारि सु इत्यत्र सोर्लुकि “न लुमताङ्गस्य” इति प्रत्यक्षक्षण-
निषेधेन न सम्बुद्धिनिमित्तको गुणः । तेन ‘हे वारि’ इति सिद्धयति । “न लुम-
ताङ्गस्य” इत्यस्यानित्यत्वात्पक्षे “प्रत्यक्षलक्षणम्” इति प्रत्यक्षक्षणेन
“हस्त्वत्वं गुणः” इति सम्बुद्धिनिमित्तकगुणे ‘हे वारे’ इति भवति । “न लुमता-

झस्य” हृत्यस्यानित्यत्वे हि “हृकोऽचि विभक्तौ” हृत्यन्नाजप्रहृणं ज्ञापकम् ।

तथाहि—“हृकोऽचि विभक्तौ” हृत्यत्र अधिप्रहणाभावे हलादिशु स्थामाक्षिपेरेषु, सत्यपि तुमि “नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य” हृति नस्य लोपसम्भवादचीति ऋयर्थम् । न च सम्बुद्धियावृत्यर्थम् अजग्रहणम् । तत्र तुमि सति “न छिसम्बुद्धोः” हृति निषेषे सति नकारश्वरणप्रसङ्गादिति वाच्यम् ? सम्बुद्धेषुका लुप्ततया प्रत्ययलक्षगाभावेन तत्र तुमः प्राप्तेरोपाभावात् । “न लुमताङ्गस्य” हृति निषेषभृत्यानित्यत्वे तु सम्बुद्धौ प्रत्ययलक्षणेन प्राप्तं तुम्नं वारयितुमजप्रहृणं चरितार्थम् । पवच्छ अजग्रहणं “न लुमताङ्गस्य” हृत्यस्यानित्यत्वे लिङ्गमिति दिक् ।

प्रश्नः—“तृतीयादिशु भाषितपुंस्कं पुंवद्वालवस्य” हृत्यत्रस्थ प्राप्तिपुंस्कस्यार्थः स्पष्टमुपपादनीयः ।

उत्तरम्—ननु भाषितपुंस्कमित्यस्य भाषितः पुमान्येन शब्देनेत्यर्थकरणेऽनादिशब्दे तत्सत्वेऽपि पीलुशब्देनाऽपि तुम्सो भाषितत्वात्तत्र पुंवद्वालवातिप्रसङ्गो दुर्बारत्स्वमाङ्गाषितः पुमान्यत्वित्यन्प्रवृत्तिनिमित्तरूपेऽयं हृति बहुवीहिः । यस्य शब्दस्य पुन्नपुंसकग्रोरेकप्रवृत्तिनिमित्तं तस्य पुंशत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः । पवच्छ अनादिशब्दस्य पुंसि क्लोषे चाऽरेपिताऽदित्यं प्रवृत्तिनिमित्तमेकमेवेति भवत्येव पुंशत्वम् । पोलुशब्दस्य तु वृक्षे वृक्षत्वव्याप्त्यजातिः प्रवृत्तिनिमित्तम्, फले फलत्वव्याप्त्यजातिः प्रवृत्तिनिमित्यमुखत्रैकजातेस्तत्वाभावेन न पुंशत्वमिति ।

प्रश्नः—प्रार्णशब्दस्य आमि रूपं प्रदर्शय तत्रत्यमतभेदोवर्णनीयः ।

उत्तरम्—प्रकृष्टः राः-धनं, यस्य हृति बहुवीहौ प्ररैशब्दः । तस्य नपुंसक-हृत्यत्वेन हकारः ‘प्ररि’ हृति, तदमादृ आमि ‘प्ररि + आम्’ हृति स्थिते अत्र ‘हृत्यन्त्यापः’ हृति तुटि प्राप्ते “हृकोऽचि” हृति तुमि च प्राप्ते “नुमचितृजवद्वावगुणेभ्यो तुट् पूर्वविप्रतिरेषेन” हृति पूर्वविप्रतिरेषाऽनुमं बाषित्वा तुटि कृते “रायो हृलि” हृत्यात्वे ‘प्रराणाम्’ हृति माधवः ।

वस्तुतस्तु—हृत्यान्तत्वसुपजात्य प्रवृत्यस्य तुश्वत्वद्विवातकमात्वं प्रति निमित्तत्वासम्भवात् तुटि अत्वं न भवतीति ‘प्ररीगाम्’ हृत्येव साधु । ननु एवं तर्हि हृत्यान्तत्वसुपजात्य प्रवृत्यस्य तुटः तद्विवातकं ‘नामि’ हृति दीर्घं प्रति कथं निमित्तत्वमिति चेद् ? न । “नामि” हृति दीर्घस्त्वारम्भप्रामध्यात्सञ्चिपातपरिभार्त्याभावते हृत्युक्त्वादिति दिक् ।

हृत्यजन्मतनपुंसकलिङ्गाः ।

अथ हलन्तपुंलिलङ्गाः ।

प्रश्नः—“दादेधार्तोर्धः” इति सूत्रे उपदेशपदस्य कर्थं लाभः, तदभावे च को देषः तदुपपादय ।

उत्तरम्—“दादेधार्तोर्धः” अत्र धातोरित्यावतंते, पक्षे धातुग्रहणमव्यवष-
ष्ट्यन्तं हकारेऽन्वेति-धातोरवयवस्य हृत्येति । द्वितीयं धातुग्रहणं तु धातोरुपदेश-
काळं लक्ष्यति । तेन “दादेधार्तोर्धः” इत्यस्य उपदेशे दादेधार्तोर्हृत्यं चः स्याज्ञस-
लि पदान्ते चेत्यर्थः सम्पन्नः । अत्र उपदेश इति किम् ? अधोक् इत्यत्र यथा
स्यात् । दामलिहमात्मनः हच्छति दामलिहति; ततः किपि दामलिद् अत्र
माभूत् । तथाहि—उपदेशपदाभावे आगमसमिक्षाहारे आगमविशिष्टस्य धातु-
त्वात्स्य च दादित्वाभावादधोगित्यत्र घत्वं न स्यादित्यव्यासिः । दामलिहित्यत्र
दादित्वाद् घत्वं स्यादित्यतिव्यासिर्वैष्टद्वारणायोपदेशपदमावश्यकम् । कुते चो-
पदेशे अधोगित्यत्रौपदेशिकदादित्वस्य सत्वेन घत्वं सिद्धम् । दामलिहित्यत्रौपदेशि-
कदादित्वाभावात् घत्वं, किन्तु “हो दः” इति दत्त्वमेव भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—“एकाचो बशो भृत्यन्तस्यस्थेवाः” इति सूत्रस्थका-
चो धातोः सामानाधिकरणेनान्वयः, उत वैयधिकरणेन तदुपपादय ।

उत्तरम्—“एकाचो बशो भृत्यन्तस्यस्थेवाः” इति सूत्रे “सम्भवति सा-
मानाधिकरणे देवयधिकरणयस्यान्याद्यत्वम्” हृति न्यायेन एकाच हृति धातोरेव वि-
शेषणं भवितुमर्हति । तेन गर्दभम् आच्छेदे गर्दभयति, ततः किप् गिलेपः गर्दभम्
इत्यादौ धातोरेकाच्चत्वाभावेन भृत्यावो न स्यादिति लक्ष्यानुरोधेन क्वचित् वैय-
धिकरणेनापि अन्वयो भवति । ततश्च धातोरवयवो य एकाच्च ज्ञानन्तः तदवय-
वस्य बशः स्थाने भृत्यादिति सूत्रार्थेन ‘गर्धद्’ इत्यत्र भृत्यावसिद्धिः । न चैव
‘धुघः’ इत्यादौ धातुरेकाच्च न तु धातोरवयव एकाजिति तत्र भृत्यावो न स्या-
दिति वाच्यम् । “व्यपदेशिकदेकस्मन्” हृति परिभावया व्यपदेशिवद्भावेन धाता-
वेव धात्ववयवत्वमारोप्य भृत्यावसिद्धेः ।

प्रश्नः—‘अनडूवान्’ इत्यत्र आमागमो नुमागमश्च प्राप्तः, तत्र नु-
मा आम् कर्थं न बाध्यते तत् सर्वमुपपादय ।

उत्तरम्—“सावनहुहः” इति सूत्रे “आच्छीनशोर्नुष्” इत्यतः आदिति
पदमनुवर्तते । ततश्चानहुहशब्दावयवाणीत्परो नुम् स्यात् सौ परे इति सूत्रार्थः ।

तेषा "चतुरनहु होरासुदातः" इति सूत्रविहितस्य आमः सर्वनामस्थानविचयो भवति, "साधगहादः" इति विहितस्य तुमस्तु सुविषय प्रवेतिविशेषविहितेनापि तुमा आम् न बाध्यते । आदित्यविधिकारात् । यदि तुमा आम् बाध्येत तदा 'आद' इत्यविधिकारो अथं प्रव स्थादिति उपजीव्यविरोधः स्पष्ट प्रव । एवं रीतया सम्बुद्धावपि अमा च तुम् न बाध्यते । ननु अनद्वानित्यत्र "बसुर्जंसु" इति, इत्यस्थादिति चेद् ? न । "सावनहुः" इति तुमविधिसामर्थ्यात् । न च "नलोपः प्रातिपदिकामत्स्य" इति नलोपः स्थादिति बाध्यम् । "हंयोगान्तस्य लोपः" इति सूत्रस्य त्रैपादिकस्तेन हलोपस्थासिद्धत्वादिति उक्तरूपस्य सिद्धिरिति दिक् ।

प्रद्वनः—'चतुर्णाम्' इत्यत्र एत्वस्यासिद्धत्वात् पूर्वं द्वित्वेन भाव्यम्, इति मूले णत्वं द्वित्वं चतुर्णाम् इति कथमुक्तं तदुपपादय ।

इत्तरम्—'चतुर् + आम्' इत्यत्र "चतुर्जुम्भ्यंश्च" इत्यनेन आमो तुमि चतुर् नामिति जाते "राम्यां नो णः समानपदे" इति णत्वे "अचो रहाम्यां द्वे" इति णकारस्य द्वित्वे "चतुर्णाम्" इति रूपम् । ननु "पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने" इति परिभाषया द्वित्वे कर्तव्ये "पूर्वत्रासिद्धम्" इति सूत्राप्रवृत्या परत्वात् द्वित्वेन; ततो णत्वेन भाव्यमिति चेद् ? न । "पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने" इति परिभाषया द्वित्वे कर्तव्ये अन्यदसिद्धं न । न तु द्वित्वस्याऽपि असिद्धत्वं नेति तदर्थात् । एवं च णत्वोत्तरमेव द्वित्वमिति दिक् ।

प्रद्वनः—किमशब्दस्य द्वेः प्राकूपाठकरणेन "किमः कः" इत्यत्र 'इमः' इति न्यासेनापि सिद्धौ "किमः कः" इति गुरुभूतन्यासस्य किम् फलं तदुपपादय ।

इत्तरम्—ननु 'इमः' इति न्यासेऽपि विम्शशब्दस्य द्वेः प्राक् पाठकरणेन "त्यदादीनामः" इति सम्पूर्णसुक्रानुवृत्या त्यदादीनाम् इमः अः स्थादित्यर्थं 'कः' इत्यादिप्रयोगसिद्धौ कारोपादाने अथमिति चेद् ? न । त्यदादेः इमः अकारविधौ "अव्ययसर्वनामाम्" इति किमशब्दस्याकृष्णं कृते 'ककिम्' इति लिखते "इमः" इति न्यासेन अकारे कृते 'ककः' इत्यविष्टरूपात्मेः । "किमः कः" इति सुकौ तु साक्षक्तस्याऽपि किमशब्दस्य "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्णते" इति न्यासेन किमशब्दत्वात् तत्प्रकारेण सति 'कः' इति इत्यरूपस्य सिद्धिः ।

प्रद्वनः—'रामः' इत्यत्र भल्लोपस्य स्थानित्यत्वात् द्वित्वं कर्त्वं

स्थात् , तत् सविश्वरमुपपादय ।

उत्तरम्—‘राजन् + अस्’ इति स्थिते भसञ्जायाम् “अलेलोऽनः” इति सूत्रेण अकारलोपे “स्तोः इच्छुना इच्छुः” इति इच्छुत्वेन अकारे ‘राजः’ इति सिद्ध्यति । ननु अत्र “अकः परस्मिन् पूर्वविष्ठौ” इति शशप्रत्ययनिमित्तीकृत्य भसञ्जाद्वारा जायमानस्य अललोपस्य-अजादेशस्य स्थानिभूतादकारात्पूर्वत्वेन हृष्टवात् जकारात्परत्य नकारत्य इच्छुत्वे कर्तव्ये स्थानिवद्वावेन अकारस्यानयनेन जकारनकारयो-मंडये अवधारात् इच्छुत्वं न स्थादिति चेद् ? न । “पूर्वत्रासिद्धिये न स्थानिवद्” इति ब्रैपादिकत्वेनासिद्धिये इच्छुत्वे कर्तव्ये स्थानिवद्वावनिषेधात् ।

न च अललोपस्य बहिर्भूतशशप्रत्ययनिमित्तकतया बहिरङ्गत्वेन “असिद्धं बहि-रङ्गमन्तरङ्गे” इति परिभाषया असिद्धत्वेन इच्छुत्वं न स्थादिति वाच्यम् । तत्याः प्रिभाषायाः “वाह ऊट्” इति सूत्रस्थोठप्रहणज्ञापिततया सापादिकत्वेन यथोद्वृदेश-पक्षे तदृष्टव्या ब्रैपादिकइच्छुत्वस्यासिद्धतया तत्र तस्याः परिभाषायाः अप्रबृस्या अललोपस्य असिद्धत्वाभावात् । परिभाषाज्ञापकं तु “वाह ऊट्” इति सूत्रस्थोठप्रह-णमेव । तथाहि—“वाह ऊट्” इत्यत्र “वाहः” इत्येव सूत्रं कर्तव्यम् । भसञ्जाकृत्य वाहः सम्प्रसारणे भवतीति तदर्थः । ‘विश + वाह + अस्’ इत्यत्र वाहः सम्प्र-सारणे पूर्वस्य च कृते विश ऊह् अस् इति जाते अत्र प्रत्ययलक्षणेन विश्वापाद्य-वातुकमाखित्य “पुग्नन्तलघूपधन्य च” इति गुणे ‘विशव ऊह् + अस्’ इति स्थिते “बुदिरेचि” इति सृदौ ‘विशौहः’ इति सिद्ध्यतीति ‘वाह ऊट्’ इति सूत्रस्थो-ठप्रहणं अर्थं सत् ज्ञापयति “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति । तेन अन्तरङ्गे सृदौ कर्तव्यायां जातस्य लघूपधगुणस्य बहिरङ्गत्वेन असिद्धत्वात् प्रकृते त्रुदिनं स्थादिति ऊटप्रहणं स्वांचे चरितार्थमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘प्रतिदीप्तिः’ इत्यत्र अललोपस्य स्थानिवत्वेन “हलि च” इति उपधारीर्थो न स्थादिति तत्र स्थानिवद्वावस्य वारणे कथा री-त्या कृतं तत्सम्यगुपपादय ।

उत्तरम्—‘प्रतिदिवन् + अस्’ इति स्थिते भसञ्जायाम् “अलेलोऽनः” इति सूत्रेण अकारलोपे कृते “हलि च” इति उपधारीर्थं कृते ‘प्रतिदीप्तिः’ इति सिद्ध्यति । मत्यत्र अललोपस्य “अकः परस्मिन् पूर्वविष्ठौ” इत्यनेन स्थानिभूताद-यो—लुकाकारात् पूर्वत्वेन हृष्टस्य हकारस्य दीर्घे कर्तव्ये स्थानिवद्वावेन अकार-

व्यवधानात् हलपत्वाभावेन “हलि च” इति दीर्घो न स्यादिति चेत् । न पदान्तद्विवैचनवेरयलोपत्वरसवणांनुभ्वारदीर्घजश्चरविष्वु” इति सूत्रेण दीर्घं कर्तव्ये स्थानिवज्ञावस्य निषेधेन हलपत्वात् “हलि च” इति दीर्घत्य सुवचत्वात् ।

न च “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति परिभाषया—वाचशस्प्रत्ययनिमित्त-काललोपस्य बहिरङ्गतया अन्तर्भूतनकारनिमित्तकत्वेन अन्तरङ्गात् “हलि च” इति दीर्घविधायकशास्त्रादृष्ट्या असिद्धत्वात् दीर्घप्रवृत्तिर्न स्यादिति वाच्यम् । यथोद्वदे-शपक्षे—“असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति परिभाषायाः “वाह ऊट्” इति सूत्र-स्थो ठप्पहणज्ञापिततया सापादिकत्वेन तदृष्ट्या “हलि च” इति ज्ञात्यस्य त्रैपादि-कत्वेनासिद्धत्वात् तद्विषये “असिद्धं बहिरङ्गम्” इति परिभाषाया अपवृत्तेः । न च कार्यकालक्षे दोष इति वाच्यम् । एकपक्षेणेष्टसिद्धौ पक्षान्तरेण दोषदान-स्थानुचितत्वात् ।

प्रश्नः—‘वृत्रधनः’ इत्यत्र “एकाजुत्तरपदे णः” इत्यनेन नकारस्य णत्वं कुतो नेति तदुपपादय ।

उत्तरम्—‘वृत्रधनशब्दात् शसि भसज्ज्ञायाम् “अल्लोपोऽनः”’ इत्यकारणेषे “हो हन्ते” इति हकारस्य कुत्वेन घत्वे शासः सत्य रुचे विसर्गे च ‘वृत्रधनः’ इति सिद्धयति । न चात्र “हन्ते” इत्यनेन सूत्रेण नकारस्य णत्वं कुतो नेति वाच्यम् । “अत्पूर्वस्य” इत्यनेन हृवाकारपूर्वकस्यैव हन्तेनकारस्य णत्वमिति नियमानात् । अत्र तदभावेन णत्वाप्रवृत्तेः । न च “अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा” इति न्यायेन “अत्पूर्वस्य” इति “हन्तेरि” त्यह्यैव नियमकं भवति:, न भवति “एकाजुत्तरपदे णः” इति एकयोगे एव कर्तव्ये तदकरणेन योग-विभागसामर्थ्यात् अत्र “अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा” इति न्याया-प्रवृत्तोर्बोधनेन सञ्चिहित “एकाजुत्तरपदे णः” इत्यादेवपि तेन नियमात् । न च अल्लोपस्य स्थानिवज्ञावेन अकारव्यवधानेन अव्यवहितनकारपरस्वाभावेन कुत्वं मस्यादिति वाच्यम् । नकारे परे कुत्वविधिसामर्थ्यात् कुत्वे कर्तव्ये “अल्लोपस्य स्थानिवज्ञावो न भवतीति कल्पनेन अदोषात् ।

प्रश्नः—‘भघवान्’ इत्यत्र संयोगान्तलोपस्थासिद्धत्वेन नान्तत्वा-भावात् दीर्घत्वं कर्थं “भघवावहुलम्” इति सूचक एकपक्षाकरे प्रत्या-

ख्यातम् , तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु ‘मघवन्’ शब्दात् सुप्रत्यये “मघवा बहुलम्” इति नकारस्य स्थाने तु आदेषे ऋकारथेत्संज्ञायां लोपे च “उगिदचाम्” इति त्रुमि हृत्यादि-लोपे संयोगान्तलोपे च कृते मघवनिति जाते संयोगान्तलोपस्य असिद्धत्वेन ना-न्तत्वाभावात् पचनित्यादाविव “सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ” इति सूत्रेण दीर्घीं न स्यादिति चेद् ? न । “मघवाबहुलम्” इत्येतत्सूत्रस्थबहुलप्रहणेन “सर्वनाम-स्थाने चासम्बुद्धौ” इति सूत्रेण दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्य असिद्धत्वं न भव-तीति कलपनेन अदोषात् । भाव्यकृता हि “इन्नुश्नन्पूषन्पल्लीहन्क्लेदनस्त्वेहन्०” इत्युणादिसूत्राणि पूजार्थकमहधारातोः मनि प्रत्यये हस्य बकारादेशवृगागमयोर्नि-पातनेन मघवच्छब्दं तत्य रूपाणि च संसाध्य मघशब्दान्मनुप्र प्रत्यये “मादुग-धायाश्च” इति मघवच्छब्दं तत्य रूपाणि च संसाध्य “मघवा बहुलम्” इति सूत्रं प्रत्याख्यातम् । आरम्भपक्षे संयोगान्तलोपस्याविद्वत्वे मघवनिति ; प्रत्याख्यान-पक्षे च “अत्वसन्तस्य चाधारातोः” इति उपधारीधे मघवानिति, आरम्भप्रत्याख्या-नयोः फलभेदप्रसङ्गेन सूत्रारम्भपक्षेऽपि बहुलप्रहणेन संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वं न भवतीति कलप्यते ।

प्रश्नः—‘अष्टौ’ इति रूपं शङ्कासमाधानपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—अष्टनशब्दात् जसि “अष्टाभ्य औश्” इति कृताकारादृष्टेनः पर-योः जडशनोरौश् , इत्यर्थात् अत्र कृताकारस्याभावेन औश् कर्थं स्यादिति चेद् ? उच्यते—“अष्टन आ विभक्तौ” इत्यनेन हलादौ विभक्तौ अष्टनशब्दस्य विकल्पेन आत्वविचारानात् एकमात्रालाघवेन अष्टभ्य इत्येव वक्तव्ये ‘अष्टाभ्यः’ इति दीर्घी-ज्ञारणं उद्यर्थं सत् जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति । वैकलिपकं चेदम् अष्टन आत्वम् । तथा हि—“अष्टनो दीर्घात्” इति सूत्रे दीर्घप्रहणेन तद्वैकलिपकत्वं ज्ञापयति । तथा-हि—“अष्टनो दीर्घात्” इति सूत्रे दीर्घप्रहणं दीर्घन्तिभिन्नादृष्टनशब्दात्सर्वनामस्था-नभिन्नहलादिविभक्तीनाम् उदाचत्तत्वं मा भूदिति, तत्र हलादौ विभक्तौ नित्यमात्व-प्रवृत्तेस्तद्वितर्णा मावेन व्यावृत्यालाभात् तद् दीर्घप्रहणं उद्यर्थं स । आत्वस्य वैक-लिपकत्वं ज्ञापयति । तेन अष्टभिः अष्टाभिः इत्यादिरूपद्वयसिद्धिरूपं कलं सिद्धम् । एवं च “अष्टाभ्य औश्” इत्येव वक्तव्ये “अष्टाभ्य औश्” इति दीर्घंग्रहणज्ञापयनेन प्रवृत्ते अष्टनशब्दाऽङ्गजसि परे अष्टनो वैकलिपके आत्वे कृते “अष्टाभ्य औश्” इत्यनेन

जसः औष्टुवे शकारस्वेत्संज्ञायां कोपे च सवर्णीदीर्घे नृदी च ‘अहौ’ इति रूपस्य सिद्धिः । ननु अष्टव्याज्ञान्जसि विभक्तौ ‘अष्टाभ्यं औष्’ इत्यनेन जायमानः औशादेशः “आदेः परस्य” इत्यनेन जसोऽकारस्य स्थाने स्थादिति चेद् । न । “अनेकाल्पशित्सर्वस्य” इत्यनेन परस्वात् “आदेः परस्य” इति बाधित्वा सम्पूर्णस्यैव स्थाने भवतीत्याशयात् ।

प्रश्नः—‘प्रियाष्टनः’ इत्यत्र अल्लोपे जाते तत्र एतत्वं कथं नेति तदुपपादय ।

उत्तरम्—प्रियाष्टन शब्दात् शंसि भसम्ज्ञायाम् “अल्लोपोऽनः” इति आकारलोपे रूपे विसर्गे च ‘प्रियाष्टनः’ इति सिद्धम् । नन्वत्र “एटुगा हृः” इति सूत्रेण टकारयोगे नन्य द्वुत्येन जकारः स्थादिति चेद् । “अचः परस्मिन् पूर्वविधौ” इति सूत्रेण अल्लोपस्य स्थानित्वात् अकारव्यवधानात् टकारयोगाभावेन द्वुत्याप्रवृत्तैः । न च “पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानित्वत्” इति निषेधः शङ्खयः । “तस्य दोषः संशोगादिलोपलत्वण्ट्वेषु” इति णत्ये कर्तव्ये सञ्चिनेधात् । न च लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया णत्यपदेन न द्वुत्यनिष्ठपञ्चनात्पद्य ग्रहणमिति प्रकृते पुनरपि स्थानिक्षावनिषेधः स्थादिति वाच्यम् । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति परिभाषया भसम्ज्ञाद्वारा बाह्यशस्त्रप्रत्ययनिमित्तकालालोपस्य बहिरङ्गस्येन अन्तरभूतकारयोगनिमित्तकस्येन अन्तरङ्गद्वुत्यहृष्टया असिद्धत्वात् । न च यथोदृदेशपक्षेण ‘शङ्खः’ इत्यादाविव असिद्धपरिभाषया अप्रवृत्तिरिति वाच्यम् । एकपक्षेणेष्टसिद्धौ पक्षान्तरेण दोषदानस्यानुवित्त्वात् ।

प्रश्नः—त्व + अम् अह + अमिति स्थिते अन्तरङ्गत्वात् अमि पूर्वद्वयं बाधित्वा खीत्वविवक्षायां टापू कथं नेति तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु त्वं स्त्री अहं स्त्री इत्यत्र त्व + अम् अह + अमित्यत्र परमपि “अमि पूर्वः” इति पूर्वस्यम् अन्तरङ्गत्वात् बाधित्वा “अजायताप्” इति टापू प्रत्ययः कुतो नेति चेद् । न । “अलिङ्गे युष्मदस्मदी” इत्यमियुक्तोक्तया तयोर्लिङ्गाशोधकत्वाभावेन स्त्रीत्वाभावात् टापोऽप्राप्तेः । ननु युष्मदस्मदोः स्त्रीलिङ्गाशोधकस्येन युनरपि टापूप्रवृत्यापसि-स्त्रादवृत्येवेति चेद् । न । “शेषे लोपः” इति सूर्यं स्थानिमोऽधिकरणत्वविवक्षणा

‘बोधे’ इति सप्तमी स्वीकृत्य तस्याः षष्ठ्यर्थत्वावगमात् मपर्यन्तात् बोधस्य भाग-
स्य लोपः इत्यर्थस्वीकारेण मपर्यन्ताच्छेषस्य अदूहृत्यस्य लोपेन त्व + अम् अह् +
अभिति जाते प्रकृतेः अदन्तत्वाभावेन टापः प्राप्तेरभावादिति दिक् ।

प्रश्नः—मपर्यन्तस्येत्यधिकारसूत्रं किमर्थं तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु “मपर्यन्तस्य” इति अधिकारसूत्राभावे अक्षिविशिष्टस्यापि
युध्मदोऽस्मदश्चादेशे युवकाम् आवकाम् इत्यनयोः सिद्धिन् स्यादिति चेद् ? न ।
ओकारसकारभक्तादौ सुपि सर्वनामन्त्रेः प्रागकच्, अव्यन्त्र तु सुबन्तस्य देः
प्रागकच्” इत्यस्य ‘त्वयका मयका इत्यादिसिद्धये आवद्यकत्वात्, इहापि
अकचः प्रागादेशे ततः सुबन्तस्य देवकचि कृते प्रयोगद्वयस्य सिद्धेः सुलभत्वात् ।
नन्यैव पुनरपि “मपर्यन्तस्य” इत्यधिकारस्य धर्यत्वमिति वाच्यम् । “मप-
र्यन्तस्य” इत्यधिकारसूत्राभावे समुदायस्यादेशे कृते ‘त्व + आ’ ‘म + आ’
इति जाते ‘योऽचि’ इत्यनेन अकारस्य यत्वे ‘त्वया म्या’ इत्यनिष्प्रयोगा-
पद्मः । अतो ‘मपर्यन्तस्य’ इत्यधिकारसूत्रमावद्यकम् । नन्वत्रापि आ-
जादौ विभक्तौ परे अकारस्य एत्वमित्यर्थकेन “अच्ये” इति न्यासेन उक्त-
प्रयोगोपपत्तौ व्यर्थमेव तद् “मपर्यन्तस्य” इत्यधिकारसूत्रमिति चेद् ? न ।
‘युध्मद् + भ्याम्, अस्मद् + भ्याम्’ इति सिद्धते अत्र “ओकारसकारभक्तादौ”
इति वातिकेण अन्तरझृत्वात् सर्वनामन्त्रेः प्रागकचि ततश्च “युवावौ द्विवचने”
इत्यनेन सर्वस्य स्थाने युवावादेशे आत्वे च ‘युवाभ्याम्’ आवाभ्याम्, इति स्यात्,
न तु युवकाभ्याम्, आवकाभ्याम् इति, तदर्थमस्य “मपर्यन्तस्य” इत्यधिका-
रस्यावद्यकत्वात् ।

प्रश्नः—यूयम् वयम् इत्यन्तर्यामादेशेऽयि त-
स्य स्थानिवद्वावेन जस्तु बुद्ध्या “जसः शी” इति इयादेशः कर्थं नेति
तदुपपादय ।

उत्तरम्—युध्मच्छब्दात् अस्मच्छब्दाच्च वा जसि “हे प्रथमबोरम्” इत्य-
मादेशे “यूयवशौ जसि” इत्यनेन यूयवयादेशायोः कृतयोः “शेषे लेपः” इत्यनेन
अन्त्यडेपे “अभि पूर्वः” इतिपूर्वंरूपे यूयम् वयमिति च सिद्धयतः । नचान्न “यूय +
अम्” ‘वय + अम्’ इति दशायाम् अमादेशात्य स्थानिवद्वावेन जद्वारोपेण अद-
न्तसर्वनाम्नः परतत्रा “जसः शी” इत्यनेन शो आदेशः स्यादिति चेद् ? न । “अ-

झङ्कायें कृते पुनर्ज्ञकार्यम्” अङ्गकायें कृते पुनर्दिनीयमङ्गकार्यं न भवति, इत्यर्थिकया परिभाषया यूथवयादेशयोः अङ्गकार्ययोः प्रवृत्यनन्तरं इयादेशप्रवृत्तेनिवेदात् । हयं परिभाषा “ज्यादादीयसः” इत्याद्विधानेन ज्ञापिता । अन्यथा इकारणे-पेन “अकृत्सर्वधातुकयोः” इति दीर्घेण च ज्यायानिति सिद्धौ आद्विधानं व्यर्थमेव स्यात् ।

ननु “द्वयोः” इत्यादिनिदेशेन उक्तपरिभाषायाः अनित्यत्वात् अत्र सा न प्रवत्तेति चेद् । उच्यते—“हेप्रथमयोरम्” इति सूत्रे संयोगान्तलेपेन मकारं प्रशिल-व्यमकारान्तामादेशस्य विधानेन विकारमात्रनिवृत्तेवर्याख्याततया प्रकृते इयादेशप्रवृत्तेनिविति दिक् ।

प्रश्नः—“भ्यसो भ्यम्” इति सूत्रे भ्यम् अभ्यम् इति द्वयोरपि पदच्छेदयोः सम्भवात् अत्र युक्ततरः कः तदुपपादय ।

उक्तरम्—“भ्यसो भ्यम्” इति सूत्रे भ्यम् अभ्यम् इति द्विधा पदच्छेदः, तत्र भ्यमिति पदच्छेदे “शेषे लेपः” इति सूत्रस्य अन्त्यलेपपक्षे एव युष्मभ्यम् अस्मभ्यम् इति च सिध्यतः अङ्गागलोपपक्षे तु तयोरसिद्धिः । अभ्यम् इति पदच्छेदे तु “शेषे लेपः” इत्यस्य अन्त्यलोपपक्षे “अतो गुणे” इति परङ्गे “युष्मभ्यम्” “अस्मभ्यम्” इति च सिध्यतः । अङ्गागलोपपक्षे च अज्ञीनपरेण संयोजय युष्मभ्यम्, अस्मभ्यमिति च सिध्यतः । अयमेव पदच्छेदद्वये भेदः इत्यलम् ।

प्रश्नः—“भावनः सुटो निवृत्यर्थं ससुट्कनिदेशः” अस्याः फक्तिकाया भाशयः सुष्टु उपपादनीयः ।

उक्तरम्—ननु युष्मद् + आमिति स्थिते अदन्तात् परत्वाभावात् “भामि सर्वनाम्नः सुट्” इति सूत्रेण अदन्ताद् परस्यामो विधीयमानस्य सुयो न प्रसक्तिः । न च “शेषे लोपः” इति सूत्रेण अन्त्यस्य दस्य लोपे कृते अदन्तात्परत्वम् आमो इतीति वाच्यम् । आकमादेशात्प्राक् अनादेशतया “योऽचि” इत्यस्य प्राप्त्या “शेषे लोपः” इत्यस्याप्रसक्तेः । तत्र आत्पत्यवनिमित्तेतरविभक्तेनपेक्षणाच्च । तथाच—ससुट्कनिदेशो व्यर्थः सूत्रासङ्गतिविचेति चेद् ? न । आकमि “शेषे लोपः” इति लोपे कृते प्राप्तस्य सुयो निवृत्यर्थं ससुट्कनिदेशस्य कृतरथात् ।

अथमाशयः—अन्येव सामृत्वारोपेण आकमादेशो भवति ससुट्कनिदेशसामर्थ्यात् । तथाच—आकमादेशो कृते न्याचिवद्वारे । सामृत्वबुद्धिरेव भवति, नत्या-

त्वबुद्धिरिति न सुटः प्रसक्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—“युवावौ द्विवचने” “त्वमावेकवचने” इति सूत्रद्वयेऽपि द्विवचनैकवचनशब्दयोरर्थपरत्वम्, उत प्रत्ययपरत्वं, तदुपपादय ।

उत्तरम्—“त्वमावेकवचने” “युवावौ द्विवचने” इति सूत्रद्वये एकवचन-द्विवचनशब्दौ न प्रत्ययपरौ कस्त्वर्थपरौ यौगिकौ संख्यापरौ स्तः । अत पृष्ठ “त्वमावेकवचने” इति सूत्रयोरर्थः ‘एकस्य वचने बोधने समर्थयोर्युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तः विभक्तौ परतः, द्वयोर्वचने बोधने समर्थयोर्युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ परतः, इति दीक्षितप्रभृतिभिः स्वीकृतः । फलं च—यदि समस्यमाने युष्मदस्मदि द्रव्येकत्वाचिनि समासार्थश्च अन्यसंख्याद्वचेत्तदा युवावौ त्वमावपि स्तः; इति थमश्लेषकस्याभ्ययः । अर्थो हि—त्वां मां वा अतिक्रान्तः इति विद्धे “अन्यादयः क्रान्ताद्यथेऽ” इति समासे लभमाने युष्मदस्मदि पक्तव-विशिष्टार्थवाचिनि यदा; समासार्थञ्च मुख्यविशेष्यभूतो युष्मदस्मदर्थगतसंख्यापेक्षया अन्यसंख्यकद्वचेदपि तदा युष्मदस्मदर्थगतैकत्वे त्वमौ स्तः । तदर्थगतद्वित्वाचिनि युष्मदस्मदि समासार्थश्चान्यसंख्याकस्तदा युवावौ एकवचनद्विवचनत्वावेऽपि भवत इति । ननु युष्मदस्मदोरेकार्थकत्वे त्वमौ द्वयर्थकत्वे तु युवावौ इति सर्वत्र स्यातामिति चेद् ॥ न । “त्वाहौ सौ” “यूयवयौ जसि” “तुम्यमहौ छयि” “तवममौ छसि” इति सुजस् छे छस्सु परतो ये त्वाहादय आदेशा विद्वितास्ते परत्वात् एकार्थकत्वे त्वमौ, अर्थकत्वे युवावौ च लाधन्ते हृत्याशयात् । द्रव्येकसंख्यः समासार्थः बहुधे युष्मदस्मदि यदि स्याताम्, तयोरद्वयेकतार्थत्वात् युवावौ त्वमौ च न स्तः इति दिक् ।

प्रश्नः—‘प्रतीचः’ इत्यत्र अन्तरङ्गो यणु कुतो न तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु प्रतिडपसर्गपूर्वक अञ्जधातोः किनि तस्य सर्वस्य लोपे कुदन्तत्वात्प्रतिपदिकसंज्ञायां शसि अनुबन्धलोपे भसंज्ञायां नकारस्य “अनिदिताम्” इति लोपे प्रति + अच् + अस् इति स्थिते अत्र “अचः” इति अकारस्य लोपे प्रासे तमन्तरङ्गत्वाद्वाधित्वा “इको यणचि” इति यणः स्यादिति चेद् ॥ न । “अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः” इति “अचः” इति लोपेन यणिनित्तस्याकारस्य विजाशोभमुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं-अच्प्रयुक्तं, कार्यं-यणूर्णपि कार्यं, न कुर्वन्ति, इत्यर्थिकया तस्य बाधात् ।

प्रश्नः—“अ इसोऽद्रेः पृथक्कुमुत्वं केचिदिच्छुन्ति लत्ववत्” इति कारिका युक्तियुक्तमुपपादनीया ।

उत्तरम्—‘अद्वित + अङ्ग’ इति स्थिते ततः सौ तत्वं लोपे “अद्वोसेदांतुदो मः” इति सूत्रेण दकारदृष्टव्य, “चलीकलृप्त्यते” इत्यन्न “कृपो रो लः” हृत्यनेन हीग्रन्तकारयोदभयोर्यथा लस्यं तथैव अत्र दकारदृष्टव्यापि मकारे, अकाररेफयोओकारे कृते ‘अमुमुक्षू’ इति रूपम् । “अलोऽन्त्यत्य” इति सूत्रेण इकास्योत्वं प्राप्नोति दकारोभवारणात् रेफस्योत्वं प्राप्नोतीति दकारोपादानाशामध्येन रेफस्यैवोत्वं स्वादिति पक्षे अस्त्यवाखे अन्त्यसदेशस्य” इति परिभाषया परस्यैव मकारे डकारे च कृते “अमुमुक्षू” इति रूपम् । ‘असेः’ इति निर्देशेन यत्र सकारत्याकारो भवति; तत्रैव सुत्वं भवतीति पक्षे अत्र मुस्त्वाप्राप्तेः ‘अद्वृक्षू’ इति रूपम् । इदं पक्षत्रयमपि भाष्यसम्मतम् । अत उक्तम्—

अद्वोद्रेः पृथक्कुमुत्वं केचिदिच्छुन्ति लत्ववत् ।

केचिदिच्छ्यसदेशस्य नेत्येके सेहि इत्यते” ॥ इति ।

प्रश्नः—‘अप्रत्ययप्रहणं ज्ञापयति अन्यत्र धातुप्रहणे तदादिविधिरितितेनायकारः इत्यत्र ‘अतः कृकमिति सः’ इत्येत् रूपष्टं क्रियताम् ।

उत्तरम्—“विष्वगदेवयोम्ब देवदृष्ट्यज्ञतावप्रत्यये” इत्यन्न अप्रत्ययप्रहणं किमर्यम् । तद्वाखे उत्तरपदाद्विकारत्वात् अन्त्युधातुरपदे परे विष्वगदेवयोः सर्वान्मनश्च देवदृष्ट्यादेशो भवति हृत्ययेन यत्र लुसप्रत्ययान्तकेवकाल्युधातुरपदं यथा-अद्वृक्षू हृत्यादि तत्रैव तत्प्रवृत्ते, विष्वगज्ञनमित्यादौ च अज्ञनमित्युत्तरपदत्य अज्ञधातुरूपत्वाभावेन तत्याप्रवृत्तोः सर्वत्राऽद्वेषादिति अप्रत्ययप्रहणं डवर्यं सर्वज्ञापयति—“धातुप्रहणे तदादिविधिः” इति । एवं च प्रकृते अप्रत्ययप्रहणाभावे अन्त्युधात्वायुत्तरपदे हृत्यर्थपत्या ‘विष्वगज्ञनम्’ इत्यन्न अज्ञनमित्यस्य अज्ञधात्वादित्वाद्वादेशापत्तिः । अतस्त अप्रत्ययप्रहणं सर्वाङ्के चरितार्थम् । अन्यत्र कलं तु ‘अयस्कारः’ इत्यन्न “अतः कृकम्” इति सूत्रेण ज्ञापादातुरपदे हृत्यर्थलाभेन कारकाभ्ये परे विसर्गंत्य सादेशसिद्धिरिति दिक् ।

प्रश्नः—“उगिदचाम्” इति सूत्रे अज्ञप्रहणं किमर्यम्? अधातोरित्यस्याऽपि किम् फलं; तदुपपादय ।

उत्तरम्—अञ्जतेरुगित्वादेव नुभि सिद्धे “उगिश्चाम्” हति सूत्रे अज्ञप-
हणम्—“सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति” हति न्यायेन नियमय-
ति—“धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्हि नलोपिनोऽञ्जतेरेव” हति । तेन ‘स्त्रौ, इवद्’ इत्यादौ
उगित्प्रयुक्तो नुम् न । ‘उखास्त्रृ ब्राह्मणी’ इत्यादौ च नुम्भीपौ न भवतः । ‘न-
लोपिन’ हति विशेषणं तु ‘प्राण ब्राह्मणी’ इत्यत्र डीबभावार्थम् । न च पूर्वज्ञाप-
नेनैव अञ्जुधात्वतिरिक्तानां धातूनां नुमोऽभावे सिद्धे; अधातुयहां व्यथंमिति वा-
च्यम् । अधातोरिति प्रहणसामर्थ्यात् भूतपूर्वस्य अधातोरपि उगितो नुम्भवतीति
ज्ञापनेन सार्थक्यात् । तेन गोमच्छब्दात् क्यजन्तप्रकृतिक्विज्ञतात् सुप्रत्यये “अ-
त्वसन्तस्य चाधातोः” हति दीघे “उगिदचाम्” हति नुभि हरुङ्गयादिलोपे संयो-
गादिलोपे च गोमानिति सिद्ध्यति ।

प्रश्नः—‘सेदुषः’ अस्य लिङ्गिः शङ्कासमाधानपूर्वकमुपपादनीया ।

उत्तरम्—शदूधातोः “भाषायां सदवसश्वुः” हति लिटः क्वसुः, उकावि-
तौ, “लिटि धातोः” हति द्वित्वं, “पूर्वोऽभ्यासः” हति अभ्याससंज्ञा, “हलादिः
शेषः” हति आदिहङ्कः शेषः । “अत एकहलमध्ये” हति एत्वाभ्यासलोपौ “वस्वे-
काजाद्वासाम्” हति हट् सेदिवस् शब्दः । कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां ततःशसि
भसंज्ञायां “वसोः सम्प्रसारणम्” हति सम्प्रसारणे प्राप्ते ततः पूर्वम् “अकृतव्यूहाः
पाणिनीयाः” हति परिभाषया कृतमपि कार्यं निवर्तयन्ति इत्यथेन इडागमस्य
निवृत्तौ ततः सम्प्रसारणे “सम्प्रसारणाच्च” हति पूर्वरूपे “आदेशप्रत्ययोः” हति
वत्ते रुत्वे विसर्गं च ‘सेदुषः’ हति रूपस्य सिद्धिः ।

प्रश्नः—“औत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः सादुत्वं च”
अस्याशयः कः तदुपपादय ।

उत्तरम्—इदमत्र तात्पर्यम्—यत्र “औत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः
सादुत्वं च” हति वार्तिकं लगति, तत्र औत्वप्रतिषेधः, उत्वं चेति कार्यद्वयं भवतीति
‘असुकः’ इत्यस्य सिद्धिः । ‘असको’ इत्यत्र “अदृप औ सलोपश्च” हति औकारा-
देशे विहिते तत्र वार्तिकविहितमुत्वमपि न भवतीति दिक् । हति हलन्तपुँलिङ्गाः ।

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

प्रश्नः—‘विमलदिवि’ इत्यत्र अन्तरवर्तीनो विभक्तिसाश्रित्य “दि-
च उत्” इति उत्वापत्तिः कथं वारिता तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु यथा ‘राजगुरुवः’ इत्यत्र पूर्वपदस्य अन्तर्वर्तीनां विभक्तिमा-
श्रित्य पदसंज्ञायां सत्यां नलोपे भवति, तथा ‘विमलदिवि’ इत्यत्रापि “प्रत्ययलोपे
प्रत्ययलक्षणम्” इति सूत्रेण प्रत्ययलक्षणे दिव इत्यस्य पदसंज्ञायां सत्यां “दिव उत्”
इति उत्तरं स्थादिति चेद् ? न । “उत्तरपदस्य चापदादिविधौ प्रतिबेधः” इति
वार्तिकेन प्रत्ययलक्षणनिषेधात् । वार्तिकार्थस्तु-उत्तरस्य-उत्तरपदस्य, पदसे पदसं-
ज्ञायां, पदप्रयुक्ते कायें कर्तव्ये प्रत्ययलक्षणं न भवतीति, उत्तरपदस्य आचाक्षरस्य कायें
कर्तव्ये प्रत्ययलक्षणं भवत्येवेति । तथाहि-दधना सेचो दधिसेचो इत्यत्र सकारस्य
“सात्पदाश्योः” इत्यनेन षट्वनिषेधे कर्तव्ये प्रत्ययलक्षणेन सेच इत्यस्य पदत्वमस्त्येव
चाकारस्य कुत्वे कर्तव्ये तु पदस्वं नास्तीति ।

प्रश्नः—‘अहः, अहोभ्याम्’ इत्यत्र रत्वहृत्वयोरसिद्धत्वात् नलोप-
प्रसङ्गः कथं वार्यते, तत् दर्शय ।

उत्तरम्—‘अहन् + सु’ इति दशायां हठड्यादिना सलोपे ‘रोः सुषि’ इत्य-
नेन नकारस्य रुत्वे तस्य विसर्गं च कृते ‘अहः’ इति रूपम् । अहन् + भ्याम्’ इ-
त्यत्र “स्वादिष्वसर्वनामस्थाने” इतिपदसंज्ञायाम् “अहन्” इत्यनेन रुत्वे “हशि
च” इत्युत्त्वे गुणे च कृते ‘अहोभ्याम्’ इति सिध्यति ।

ननु ‘अहः’ इत्यत्र ‘अहोभ्याम्’ इत्यत्र च रत्वहृत्वयोरसिद्धत्वात् “नलोपः
प्रातिपदिकान्तस्य” इति सूत्रेण उभयत्रापि नलोपापत्तिरितिचेद् ? न । “अहन्”
इति सूत्रस्य आवृत्तिं कृत्वा एकेन सूत्रेण अहनशब्दो याहशो वर्तते तादशो वर्त-
ताम् ; न तु विकृतिमियादित्यर्थबोधनात् । द्वितीयसूत्रेण च अहन्नित्यस्य रु-
स्यात् पदान्ते इत्यर्थेन ‘अहः, ‘अहोभ्याम्’ इत्यादौ नलोपापत्तेवारणात् । आवृत्तौ
मानेच—“रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्” इति वार्तिकमेव । अन्यथान लोपे अहो-
रूपम् इत्यादौ हकारधटक-भकारस्य रेफादेशे रुत्वादेशे वा नास्ति वैलक्षण्यम् ।
अकाराभावेन “हशि च” इति सूत्रस्याप्रवृत्तोः ।

प्रश्नः—‘दीर्घाहा’ इत्यत्र “अहन्” इति रुत्वं भवति न वा तत्सो-
पपत्तिकं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“अहन्” इति सूत्रे पदाधिकारात् तं प्रति अहनशब्दस्य विशेष-
ज्ञत्वेन “येन विशिस्तदन्तस्य” इति सूत्रेण तदन्तविधौ अहनशब्दान्तस्याऽपि रु-
स्यात्पदान्ते इत्यर्थेन दीर्घाहनशब्देऽपि रुत्वम् ।

न च “ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति” इति परिभाषया तदन्तविधिनिषेधात्कथमन्न तदन्तविधिरिति वाच्यम् । “प्रहणवता प्रातिपदिकेन” इति परिभाषयाः प्रत्ययविधिविषयकत्वेनात्राप्रवृत्तेः । न च तदन्तेऽपि रुत्वविधानात् “दीर्घादौ” हृत्यादावपि अन्तर्वर्तिविभक्त्या पदत्वात् रत्वापत्तिरिति वाच्यम् । “उत्तरपदत्वे च” इति निषेधेन अपदत्वात् उक्तापत्तेयोगात् । ‘दीर्घादन् + सु’ इति दशायां परत्वात् उपधादीर्घे कुने हृल्ङ्यादिसूत्रेण सुलोपे प्रत्ययलक्षणेन “असुपि” इति निषेधात् “रोडसुपि” इति सूत्रस्याऽप्रवृत्तौ “अहन्” हृत्यनेन रुत्वे “भोभगो” इति अवर्णपूर्वत्वाशत्त्वे “हृलि सुंषेषाम्” इति यलोपे ‘दीर्घादौ’ इति रूपम् ।

ननु नान्तलक्षणदीर्घस्य परत्वेऽपि अकृतव्यूहपरिभाषया हृल्ङ्यादिलोपात्प्राग् प्रवृत्तिने संभवति, रुत्वेन नकास्य विनाशोन्मुखत्वात् ; इति चेद् ? न । रुत्वस्यासिद्धत्वात्, नान्तलक्षणदीर्घे बाधाभावात् । सम्बुद्धौ तु प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य “असम्बुद्धौ” इति प्रवृत्तेरुपधादीर्घाभावे रुत्वे “हशि च” हृत्युत्वे आद्युगे ‘दीर्घादौ’ निदाव्य इति रूपम् ।

प्रश्नः—‘असूजः पदान्ते कुत्वं सृजेः किनो विधानात् । विश्वसृडादौ तु न । ‘रज्जुसृडभ्याम्’ इति भाष्यप्रयोगात् । इयं फक्तिकासाधु व्याख्येयो ।

उत्तरम्—असूजशब्दस्य पदान्तविषये कुत्वं भवति । यथपि इह किवपु प्रत्ययो, न तु किन्, तथापि कुत्वमेव । ‘किवनप्रत्ययस्य कुः’ इत्यस्य किवन् प्रत्ययो यस्माद्वृष्टः इत्यर्थकरणात् । ‘ऋत्विक्दधुक्स्त्रक्’ इत्यत्र सृजेः किवनो विधानात् असुग्रृह्यत्यन्त्र किप्रप्रत्ययेऽपि कुत्वप्राप्तेः । नचैवं ‘विश्वसृडः’ इत्यत्रापि कुत्वापत्तिरिति वाच्यम् । “सृजिहशोर्षेलयमकिति” इति सूत्रे ‘रज्जुसृडभ्याम्’ इति भाष्यप्रयोगात् अवययपूर्वपदे कुत्वाभावबोधनेन उक्तप्रयोगे आपत्यभावात् ।

ननु षत्वविधायकसूत्रे ‘सृज्-सृज्-यज्’ इति विशिष्टग्रहणात् षत्वस्य कुत्वा-पवादत्वात् षत्वस्यैव प्रासिन्तु कुत्वस्येति चेद् ? उच्यते—“वश्वभस्जसृजसृज्” इति सूत्रे सृजियज्योः पदान्ते षत्वं विधीयते । षत्वं कुत्वापवादः । तेन असूजः किप्रप्रत्ययान्तस्य षत्वमेवोचितम् । ऊग् इति तु ऋत्विग्” इत्यादिना निपातनात् कुत्वेन साधु । निपातनं नाम—अन्यादशे प्रयोगे प्राप्ते अन्यादशप्रयोग-करणम् । निपातनेन अपवादशास्त्राप्रवृत्तिमात्रे बोधयते । कुत्वं सु सुत्रेणैव भवति ।

ये च असृगिति अस्यतेरौणादिकेन क्रच् प्रत्ययेन साधु ।

प्रश्नः—बेभिदि ब्राह्मणकुलानि हृत्यन्न नुमागमः कुतो नेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—बेभिद्वातोर्यडतात् किपि अतो लोपे यलोपे च कृदन्तत्वात् प्रतिपदिकसंज्ञायां प्रथमावहुवचने जसि “जशसोः शिः” इति दयादेशो ‘बेभिदि’ इति सिद्धम् । नचात्र दयादेशस्य “शिः सर्वनामस्थानम्” इति सर्वनामस्थान-संज्ञायां “नपुंसकस्य झलचः” हृत्यनेन झलन्तलक्षणो नुम् स्यादिति वाच्यम् । “अचः परस्मिन् पूर्वविधौ” इत्यनेन अल्लोपस्य स्थानिवद्वावात्, अकारखुदया झलन्तत्वाभावेन नुमोऽप्राप्तेः । न च अल्लोपस्य स्थानिवत्वात् अजन्तलक्षणनुम् स्यादिति वाच्यम् । “अचः परस्मिन्” इति सूत्रेण पूर्वस्य विधौ स्थानिवद्वावविधानात् स्वविधौ स्थानिवद्वावाप्रसक्तेरिति दिक् ।

प्रश्नः—शोभनं आपः यस्मिन् सरसि तत् स्वप्, तस्मात् जसि अत्र नुमदीर्घयोः प्राप्तयोर्मध्ये केन भावयम् तदुपपादय ।

उत्तरम्—“लक्षणप्रतिपदोक्तयैव महणम्” इति परिभाषा नित्यात्परादपि नुमः पूर्व “अपत्तन्” इति दीर्घे पश्चान्तुमि “स्वाम्पि” इति सिध्यति । यदि च प्रतिपदोक्तं कुत्रचित् चरितार्थं न स्यात्; तदा लक्षणप्रतिपदोत्तप्रिभाषाविषयो भवतीति पक्षे “आपः” हृत्यन्न “अपत्तन्तच्” इति सूत्रस्य सफलत्वेन परिभाषावेष्याभावात् पूर्व नुमि उपधाया अभावेन दीर्घाभावे ‘स्वम्पि’ इति रूपं स्यादिति ।

इति हलन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः ।

प्रश्नः—अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह पञ्चाजी । “द्विगोः” इति डोप् । अत्र हि समासार्थसमाहारनिष्ठं स्त्रीत्वम् । इयं फक्किकका साधुपपादनीया ।

उत्तरम्—“प्रत्ययः” “परश्च” इति निर्देशेन ‘प्रत्ययविधौ पञ्चम्याः युक्त्वेन “अजाधृतष्टाप्” इति सूत्रे अजाधृतः इति पश्यन्तत्वे प्रातिपदिकाद्वित्यविकारात् प्रातिपदिकाद्वित्यस्य पञ्चम्यन्तत्वेन अजाधृतः इत्यस्यापि पञ्चम्य-

न्तत्वेन द्वयोरेकविभक्तत्वेन विशेष्यविशेषणभावसत्त्वात् “येन विधिस्तदन्तस्य” इति सूत्रेण तदन्तविधौ अजायन्तात् प्रातिपदिकाद्याप्यस्यात् खीत्वे घोर्त्ये इत्यथेन ‘पञ्चाजी’ इत्यत्रापि टाबापत्तिः । “समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः” इति तदन्तविधिनिषेधस्तु न शक्यः । अमहत्पूर्वं प्रहणेन “अनुपसर्जनात्” इत्यधिकारेण च खीप्रत्यये तदन्तविधिज्ञापनात् । एवं च ‘पञ्चाजी’ इत्यत्र टाबापत्तिवारणाय ‘अजायतः’ इति पदे सूत्रे पष्ठयन्तमेव । एवं सति प्रातिपदिकादित्यस्य पष्ठयन्तत्वेन अजायतः इत्यस्य च पष्ठयन्तत्वेन द्वयोः विशेषणविशेष्यभावाभावेन तदन्तविधयभावात् अजादीनाम् अकारान्तस्य च वाच्यं यत् खीत्वं तत्र घोर्त्ये प्रातिपदिकाद्याप्यस्यादित्यर्थेन पञ्चाजीति समासे पञ्चाजशब्दसमुदायवाच्यं खीत्वं वर्तते, न तु अजमात्रशब्दवाच्यं खीत्वमिति न तत्र “अजायतपूर्व” इत्यनेन टापः प्रसक्तिरिति दिक् ।

प्रदनः—“शूद्राचामहत्पूर्वा जातिः” अस्य वार्तिकस्य युक्तार्थो वर्णनीयः ।

उत्तरम्—“शूद्राचामहत्पूर्वा जातिः” इत्यत्र “शूद्रा च” इति एको योगः । “अमहत्पूर्वा जातिः” इत्यपरो योगः । तत्र पूर्वयोगे जातेरित्यनुकृष्टयते । तेन शूद्रशब्दश्चापां लभते जातिश्चेद्वाच्या इत्येकोऽर्थः । महत्पूर्वः शूद्रशब्दश्चापां न लभते जातिश्चेद्वाच्या इति द्वितीयोऽर्थः । एवं च शूद्रत्वजातिविशिष्टा इत्यथें शूद्रशब्दापि दार्ढे शूद्रेति सिद्धयति । ‘महाशूद्रो’ इत्यत्र तु महत्पूर्वकत्वेन टापोऽभावः, ‘पुंयोगादाख्यायाम्’ इत्यनेन छीषि सति तत्सिद्धिः ।

प्रदनः—“उगिदचाम्” इति सूत्रे अजग्रहणेन धातोऽश्चेदुगित्कार्यं तर्हि अञ्जतेरेवेति नियम्यते । तेनेह न ‘उखास्त्’ अस्या आशयः प्रदर्शनीयः ।

उत्तरम्—उखापूर्वकसंसुधातुशिगततम्भात् किपि “अनिदित्ताम्” इति नलोपेषु इदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सुप्रत्यये हल्क्यादिलोपे सकारस्य पदान्तत्वात् “वसुसंसु” इति सूत्रेण दत्वे चत्वें च कृते उखास्तदिति ।

नचात्र उगित्वात् खीत्वविवक्षायाम् “उगितश्च” इति छीबापत्तिरति वाच्यम् । “उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः” इति सूत्रे अञ्जुधातोरुगित्वेन त्रुमि सिद्धे अञ्जुग्रहणेन “सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति” इति नियमात् धातोऽश्चेदुगित्कार्यं तर्हि अञ्जतेरेवेति नियमात् अञ्जुधात्वरिक्धातनामुगित्कार्यभावज्ञा-

पनेन संसुधातावपि तदप्रवृत्तेतित्यङ्गम् ।

प्रश्नः—“वनोरच्च” इत्यनेन वनन्तादेव डाङ्खिहित इति ‘अति-सुत्वरी’ इत्यत्र डीप् रश्वादेशभ्य कथं ? तदुपपादय ।

उत्तरम्—“प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्” इति परिभाषया प्रत्ययान्ततदादिरूपार्थस्य लाभो भवति । ततश्च प्रत्ययान्ततदादिर्विशेषणम् प्रातिपदिकं च विशेष्यमिति “येन विधिस्तदन्तस्य” इति सूत्रेण उन्स्तदन्तविधौ प्रत्ययान्ततदादायन्तरूपं यत्प्रातिपदिकम् , तस्मात् खोत्तें घोत्तें डीप् स्यात् , रश्वान्तादेशः इत्यर्थलाभः । न च “ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिनांस्ति” इति अत्र द्वितीयतदन्तविधिर्न स्यादिति वाच्यम् ? ‘‘खियाम्’’ इत्यस्मिन्नविधिकारे “शुद्राचामहत्पूर्वा जातिः” इत्यत्र अमहत्पूर्वेतिग्रहणात् सा न प्रवर्तते इति ज्ञापनात् ।

प्रश्नः—“टाबृचि” इत्यत्र प्राचीननवोनयोर्मते अर्थभेदः कोदूशः, तमुपपादय ।

उत्तरम्—“पादोऽन्यतरस्याम्” इति सूत्रेण प्राप्तस्य डीपः हर्दे “टाबृचि” इति सूत्रमपवाद इति प्राचीनमतम् । नव्यान्तु—“शेषाद्विभाषा” इति सूत्राभाषे “पादस्य लोपोऽहत्यादिभ्यः” इत्यादिसूत्राणां यथा सावकाशत्वम् , तथा “टाबृचि” इति सत्रस्याऽपि “पादोऽन्यतरस्याम्” इतिसूत्रस्य वैकल्पिकस्तेन तदभावपक्षे सावकाशत्वमेव युक्तम् । एवबास्य पूर्वसूत्रस्यापवादत्वं न युक्तमित्याहुः । परन्तु अत्र प्राचीनमतमेव ज्यायः ।

तथाहि—अपवादशब्दो बाधकपरः, “पादोऽन्यतरस्याम्” इतिसूत्राभावपक्षे “टाबृचि” इति सूत्रं चरितार्थम् । ऋगर्थातिरिक्तायं “पादोऽन्यतरस्याम्” इति सूत्रं चरितार्थम् । ऋगर्थं तु तयोः प्राप्तयोः “टाबृचि” इति टावेवेति परत्वमूलकं बाधकत्वं चात्र युक्तमिति दिक् ।

भाष्ये तु पादशब्दसमानार्थकं पदशब्दमवृष्टम् हर्दे सूत्रं प्रत्याख्यातम् ।

प्रश्नः—‘‘पञ्च, चतस्रः’’ इत्यत्र नान्तत्वात् उग्गित्वाच्च डीप् कथं नेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—पञ्चनशब्दात् प्रथमाबहुवचने जसि जसि वा “ज्ञान्ताः षट्” इति षट्संज्ञार्था “षट्स्म्यो लुक्” इति लुकि “नलोपः” . तिपदिकान्तस्य” इति नलोपे

पञ्चेति सिद्धम् । नचात्र कार्यकालपक्षे प्रतिकार्यं संज्ञाप्रवृत्तेः सिद्धान्तितत्त्वा जस्शस्तुलगर्थं प्रवृत्तया षट्संज्ञया अन्यकार्यसाधनासम्भवेन नलोपेत्तरं ‘पञ्च’ हत्यन्न षट्संज्ञाया अप्राप्त्या “न षट्स्वस्त्रादिभ्यः” हत्यस्याप्रवृत्तेरदन्तत्वादजायत्-षाप्” इति टाप् स्यादिति वाच्यम् ? नलोपे कृतेऽपि नलोपस्य “नलोपः सुपस्वर-संज्ञातुविधिषु कृति” इति नियमेन षट्संज्ञादृश्या असिद्धत्वेन नान्तबुद्या तत्संज्ञा-प्रवृत्तौ “न पट्” इति नियमेन टापोऽभावात् । न च “न पड्” हत्यनेन हि षट्संज्ञेभ्यः स्व-स्नादिभ्यश्च छियां यद् यद् प्राप्नोति तस्य सर्वस्याऽपि निषेधः क्रीयते इति टापोऽपि निषेधसत्वात् । ‘चतस् + जस्’ हत्यन्न ऋदन्तलक्षणोप् न । स्वस्त्रादिषु चत-सृशब्दस्य पाठात् ।

प्रश्नः—“प्रत्ययस्थात्” इति सूत्रे पूर्वस्येति पदं किमर्थं तदु-पपादय ।

उत्तरम्—“प्रत्ययस्थात्कात्” इति सूत्रे पूर्वस्येत्यस्याभावे “तस्मादित्यु-त्तरस्य” इति परिभाषया अव्यवहृतपरस्येत्यन्शोपस्थितौ प्रत्ययस्य ककाराव्यवहृत-यस्य अकारस्योत्तरं स्यादित्यये ‘कटुका’ हत्यन्न इत्यापत्तिः । न च कटुक + आ’ इति दशायाम् “अकः सवणे दीर्घैः” हत्यनेन तस्य बाधः स्यादिति वाच्यम् । “वाणीदाङ्गं बलोयः” इति परिभाषया अङ्गकार्यस्य बलवत्त्वात् सर्वणिदीर्घाप्रवृ-त्तेः । कृते तु पूर्वप्रग्रहणे तत्सामर्थ्यात् परिभाषयाः पूर्वमप्रवृत्तौ पूर्वस्याकारस्येत्वमि-ति सूत्रायेन प्रकृतेऽदोषात् ।

प्रश्नः—“भञ्ज्वैषाजाङ्गास्त्रानभ्यूर्वाणामपि” इति सूत्रस्य व्या-ख्या कार्या ।

उत्तरम्—यत्र भञ्ज्वाशब्दोऽनुपसर्जनः तत्र “अभाषितपुंस्काच्च” हत्यनेन ह-त्वम् । उपसर्जने तु “भञ्ज्वा!” हत्यनेन हत्वम् । “अनेषका” हत्यादौ हत्वं न सि-ध्यति । तथाहि—“न + सु, ‘एतत् + सु’ हत्याकौकिकिग्रहे “अन्तरङ्गानपि त्रिधीन् बहिरङ्गो लुक् बाधते” इति परिभाषया स्यदादित्वात्प्राक् सुपो लुकि ततस्त्यदादि-समासरूपप्रातिपदिकाद्वये प्रतिविशिष्टस्य समासत्वे जाते सति समासवटकसुपः पर एवार्थं टाप् हत्योत्वमत्र न भवति । ‘अष्टपः’ इति प्रतिषेधात् । इह सूत्रे “डदी-चामातःस्थाने” हत्यस्मात् आतः स्थाने हत्यनुवर्तते । तच्च स्वशब्दाकारस्य वि-

शेषणम् । दृव्येषयोस्तु सर्वनामत्वेन देःप्राक् अकचि कृते ककारात्पूर्वं हस्वाकारस्य विश्वमानत्वेन आतः स्थाने अकारस्यासमभावात् । भस्मादीनां सर्वत्रैव आतः स्थानिन पूर्व आकारस्य संभवेन व्यभिचाराभावात् । स्वशब्दस्तु यत्र आत्मीयरूपार्थस्य वाचकः तत्रैव स्त्रीलिङ्गे वर्तते । एवं सति अनुपसर्जनवाचित्वे अकचि सति आकारस्थाने अकाराभावेन उदाहरणं न भवति, किन्तु यत्र उपसर्जनवाची स्यात्, तत्र सर्वनामत्वाभावेन कप्रत्यये कृते उदाहरणं सम्भवति । तथाच स्वस्या निष्क्रान्ता इति विग्रहे उपसर्जनहस्ते टापि अज्ञाता निस्वा निलिका निस्वका; इति रूपद्वयं सिद्धम्, आत्मीये द्विकेति नित्यमित्वमित्यलम् ।

प्रइनः—वहुव्रीहेभाषितपुंस्कत्वात् ततो विहितस्य नित्यम् । अज्ञाता अखट्वा अखट्विका, शैषिके कपि तु विकल्प एव । इयं फक्किका युक्तियुक्तं व्याख्येया ।

उत्तरम्—“अभाषितपुंस्काच्च” इत्यस्य न भाषितः पुमान् येन शब्देन सोऽभाषितपुंस्कः । तस्माद्विहितस्यातः स्थाने अत इद्वा स्यादित्यर्थः । तेन बहुव्रीहेभाषितपुंस्कत्वात् ततो विहितस्य नित्यम् । अत्रेदं तात्पर्यम्—अविश्वमानाखट्वा यस्या इति विग्रहे “शेषाद्विभाषा” इति कपो वैकल्पिकत्वेन तदभावपक्षे “गोख्योरूपसर्जनहस्ते” इत्युपसर्जनहस्ते ‘अखट्व’ इति जाते ततषापि सुषि अज्ञातादी के सुब्लुकि “केऽणः” इति हस्ते पुनषापि अभाषितपुंस्काद्विहिताकारस्थानिकाकारस्य अभावादेव तद्वैकल्पिकेत्वाप्राप्तौ “प्रत्ययस्थात्” इति नित्यमित्वम् । परविशेषणत्वाभ्युपगमे तु आतः स्थानिकाकारस्य अभाषितपुंस्कखट्वाशब्दात्परत्वेन प्रकृतस्मृतेण वैकल्पिकेत्वापत्तिः स्यादेव । शैषिके कपि तु विकल्प एव । अस्यायम्भावः—न खट्वा सु इति स्थिते कपि सुब्लुकि प्रत्ययलक्षणेन भागद्वयस्य सुखनत्स्वात्समासंज्ञायां “समासान्ताः” इति शास्त्रबलेन कवन्तस्यैव समासत्वात् उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तसमासरूपप्रातिपदिकाभावात् “गोख्योः” इति हस्तत्वाभावेन “केऽणः” इति प्राप्तहस्तवस्य “न कपि” इति निषेधेन “मापोऽन्यतरस्याम्” इति हस्ते कपः प्राग्बर्त्तिखट्वशब्दात्परस्य आपो अभाषितपुंस्काद्विहितत्वेन ततस्थानिकाकारस्य वैकल्पिकेत्वे ‘अखट्विका’ ‘अखट्वका’ इति । हस्वाभावे तु ‘अखट्वाक’ इति चिविधं रूपम् अत्र निर्बीचमिति दिक् ।

प्रइनः—“अनुपसर्जनात्” अस्याधिकारं र कि फलं तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु अनुपसर्जनाधिकारो व्यर्थः ? स च बहुकुरुचरा इत्यादौ छी-
बादिनिवृत्तिकलः । नद्यत्र तदन्तविर्भिं बिना छीबादिप्रासिः । तदन्तविर्भिन्न
प्रत्ययविधौ प्रतिषिद्ध इति चेद् ? न । “अनुपसर्जनात्” इतिसूत्रं व्यर्थं सत् ‘खोप्र-
त्यये तदन्तविर्भिं ज्ञापयति’ इत्याशयात् ।

तथाच बहुकुरुचरा शब्दे यद्धि कुरुचरेति टित् न तदनुपसर्जनम् इति तत्र
छीप् भवति, यद्धि बहुकुरुचेति टिदन्तं तद्धि उपसर्जनम् इति तत्र छीपेऽभावः
सूत्रस्य फलम् । ननु “श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्” इति न्यायेन छियां
विद्यमानं यद्विदादि तदन्तं तस्मात् छीप् इत्यर्थं सति कुरुचरशब्दस्य छियामभा-
वेन छीप् विधायकसूत्रस्य प्राप्तिरेति न इति चेद् ? न । प्राधान्यात्सूत्रारम्भसाम-
र्थ्याच्च छियामित्यस्य प्रातिपदिकादित्यस्य विशेषणत्वात् । अन्यथा पुनरपि सूत्रं
व्यर्थं स्यात् । नच प्राधान्यात् “अनुपसर्जनात्” इति प्रातिपदिकविशेषणं स्यात् त-
थाच कुरुचरेति प्रातिपदिकम् अनुपसर्जनमेवेति छीप् स्यादेवेति वाच्यम् । सूत्रारम्भ-
सामर्थ्येन “अनुपसर्जनात्” इत्यस्य गृह्यमाणविशेषगत्वात् । एवंत्र अनुपसर्जनं यद्वि-
दादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः छियां छीप् स्यादिति मूलोक्तार्थः सम्पन्नः ।
फलं तु—‘कुरुचरो’ इति । उपसर्जनत्वात् बहवः कुरुचराः यस्यां सा बहुकुरुचरेति
बहुत्रीहिरण्यपदार्थप्रधानः । तथा च टिदन्तस्वत्योपसर्जनत्वात् छीब् नेति दिक् ।

**प्रश्नः—‘वक्ष्यमाणा’ इत्यत्र स्थानिवद्वावेन टित्वमुग्गित्वं चा आ-
नीय टित्वादुग्गित्वाद्वा छीप् कुतो नेति तदुपपादय ।**

उत्तरम्—ननु वच् धातोर्लेटि तत्स्थाने शानचि “स्थतासि” इति स्ये, कुत्वे
ष्टवे च “आने सुक्” इति सुगागमे जाते “अजाच्छतष्टाप्” इति यापि ‘वक्ष्यमाण’
इति निष्पन्नम् ।

न च “नलयपि” इति सूत्रारम्भसामर्थ्येन अनुबन्धकार्यं कर्तव्ये अनलिवधावि-
तिनिषेधाभावेन स्थानिवत्वाद्वित्वमुग्गित्वं वावर्हाण्डय ‘वक्ष्यमाणा’ इत्यत्र टित्वा-
दुग्गित्वाद्वा छीप् स्यादिति वाच्यम् । यासुटो छीतवेन ‘लाश्रयमनुबन्धकार्यं न आ-
देशानां भवति इति तज्जिषेधात् । न च “‘हिच्च पिच्च पिच्च हिन्न’” इति भाष्येण
यासुटोहित्वं तत्र सार्थकमिति वाच्यम् । “हृलः इनः शानजझौ” इति सूत्रे आनन्दः
शित्वेन वच्चिदनुबन्धकार्येऽपि “अनलिवधौ” इति निषेधो भवतीति ज्ञापनात् ।
एवंचात्र स्थानिवद्वावो न भवतोति छीपेऽप्रवृत्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—‘ताच्छीलिके णेऽपि’ इत्यत्र किम्प्रमाणं ? चौरोति कथं सिद्धयतीति तदुपपादय ।

उत्तरम्—चुरा शीलमस्या इति विप्रे “शीलं”, “छत्रादिभ्यो णः” इति णप्रत्यये बृद्धौ आकारलोपे “ताच्छीलिके णेऽपि” इति वचनात् छीपि चौरोति सिद्धयति । उक्तवचने प्रमाणं हि—“कार्मस्ताच्छीलये” इति सूत्रम् । तत्र हि “अन्” इति विहितं प्रकृतिभावं बाधितुं टिलोपो निपात्यते । यदि तु णप्रत्यये अण्कार्यं न स्थान्, तर्हि किं तेन वचनेन । तदेव व्यर्थं सत् ज्ञापयति—ताच्छीलिके णेऽपि अण्कार्यं भवतीति । एवं प्रकृते यः ताच्छीलिके अर्थं णो विहितः तत्र अण् निमित्तको छीप् भवतीति स्वांशे चारिताऽर्थमिति दिक् ।

प्रश्नः—“अनुपसर्जस्य” इति इहोत्तरार्थमनुवृत्तमपि न पत्युर्विशेषणम्, किन्तु तदन्तस्य । तेन बहुवीहावपि” अस्याः फक्तिकायाः आशयः कः इति वद ।

उत्तरम्—सह शब्दो विद्यमानवाची, पूर्वशब्दश्च अवयववाची केवलपति-शब्दस्य विद्यमानावयवत्वं न सम्भवतीति पतिशब्देन तदन्तं गृह्णते । अत एव पति-शब्दान्तस्य गृह्णमाणस्वेन “अनुपसर्जनात्” इति ज्ञापकोक्तरोत्या पतिशब्दान्तस्यैव विशेषणम् । तेन “हृषपत्नी”इत्यादौ बहुवीहिसमासेऽपि “विभाषा सपूर्वस्य” इत्यस्य प्रवृत्तिः । “अनुपसर्जनात्” इति च उत्तरार्थमनुवर्तते । तस्य चात्रापि सम्बन्धः । बहवो वृषकपत्न्यो यस्याः इति विग्रहेण आदेशवारणार्थमन्नापि अनुपसर्जनाधिकारस्य फलमायातम् ।

प्रश्नः—अथ बृषलस्य पत्नी इति व्यस्ते कथम्? अस्याः फक्तिकायाः आशय उपपादनीयः ।

उत्तरम्—ननु बृषलस्य यज्ञे अधिकाराभावेन “पत्युर्नो यज्ञसंयोगे” इति सूत्रस्य अप्रवृत्तिः । समासाभावेन विद्यमानपूर्वत्वाभावात् “विभाषा सपूर्वस्य” इत्यस्याप्यप्रवृत्तिरति चेद् ? न । पत्नीव पत्नीत्युपचारात् । तस्य ह्यमर्थः—यज्ञयुक्तार्यां द्विजभार्यार्यां यः पत्नीशब्दो व्युत्पादितः तस्यैव शूद्रस्त्रियामपि अयज्ञसंयुक्तार्यां पाणिग्रहणादिधर्मपुरुस्कारेण गौण्या वृत्या प्रयोगात् । गङ्गायामिति श्लोलिङ्गस्य तीरे प्रयोगत् प्रकृतेऽपि । यद्वा पत्नीव आचरति इत्याचारकिंवन्तात् कर्तरि किप् । परं च अस्तिमन् पक्षे—‘पत्नियौ पतिनः’ इति इयर्ण स्यादित्यलम् ।

प्रश्नः—‘गजवाचीनागशब्दः स्थौर्यगुणयोगात् अन्यत्र प्रयुक्त उदाहरणम् । सर्पवाची तु दैर्घ्यगुणयोगात् अन्यत्र प्रयुक्तं प्रत्युदाहरणम् आस्याः फक्तिकायाः आशय उपपादनीयः ।

उच्चरम्—यादृशं स्थौर्यं गजे वर्तते तादृशमेव स्थौर्यं यदि भार्यायां स्थात्, तदा स्थौर्यगुणयोगात् सम्बन्धाद्वेतोः गजवाची नागशब्दः खियां प्रयुज्यते । एवं स्थूलगुणविशिष्टा भार्या नागीति कथ्यते । अयमेव च नागोशब्दः उडा-हरणम् । सर्पविषये—यादृशं दैर्घ्यं वर्तते; तादृशं दैर्घ्यं यदि कस्यांश्चित् भार्यायां स्थात्, तदा तादृशस्य दैर्घ्यगुणस्य सम्बन्धात् सर्पवाचको नागशब्दो भार्यायां प्रयुज्यते । एवं ‘नागभार्या’ इति प्रत्युदाहरणमिति ।

प्रश्नः—‘वोतो गुणवचनात्’ इति सूत्रे उत् ग्रहस्य रिं फलं तदुपपादय ।

उच्चरम्—ननु “वोतो गुणवचनात्” इति सूत्रे उत् इति पदाभावेऽपि अत इत्यस्य सम्बन्धेन अकारान्तादेव छीषः; इति शुविशब्दे अकारान्तत्वाभावेन छीष् न स्थादिति चेद्? न । “खक्सयोगोपधान्नः” इति वार्तिकैव्यर्थात् । तथाहि—“वोतो गुणवचनात्” इति सूत्रस्य अकारान्ते यदि प्रवृत्तिः, तदा खक्सब्दे प्रवृत्य-भावेन निषेधार्थकं वार्तिकमेव व्यर्थम् । न च “कृदिकारादक्षिणः” इत्यनेन छीषि “शुचो, शुचिः” इति रूपद्वयस्य तिद्विरिति शुचीति प्रकृतसूत्रस्य प्रत्युदाहरणं न सम्भवतीति वाच्यम् । उणादीनामव्युत्पन्नत्वादित्यलम् ।

प्रश्नः—“इन्द्रवरुण” इति सूत्रे ब्रह्मनशब्दस्य पाठाभावेन ब्रह्मा-णीति रूपं कथं सिध्यति तदुपपादय ।

उच्चरम्—ब्राह्माणम् आनयति जीवयति इति विग्रहे कर्मणि उपपदे “कर्म-ण्यण्” इति सूत्रेण अनुप्रत्यये अणन्तत्वाछीपि सति नलोपादिकायें च कृते ब्रह्मा-णीति सिद्धयति । अत्र “पूर्वपदात्सञ्जायामगः” इति णत्वम् । न च “एकाज्ञुत्तर-पदे णः” इति णत्वं स्थादिति वाच्यम् । अणि सति प्रातिपदिकस्य द्वयचक्त्वात् लुप्तेऽप्यणि लोपस्य स्थानिवत्वात् ।

न च “पूर्वत्रासिद्धोये न स्थानिवत्” इति निषेध इति वाच्यम् । “तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणस्वेषु” इति निषेधात् ।

प्रश्नः—“स्वाङ्गाषोपसर्जनादसंयोगोपधात्” अत्र स्वाङ्गपदेन कस्य

ग्रहणं स्वाङ्गस्य च लक्षणं किमिति तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु “स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्” इति सूत्रे यदि स्वं च तदङ्गं चेति औगिकं स्वाङ्गं गृहयेत्, तदा सुमुखा शाला हृत्यत्रापि स्वाङ्गत्वापच्चः, द्वाररूपसु-खस्य शालाङ्गत्वादिति चेद् ? न । स्वाङ्गं त्रिधा । तथाहि—‘अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्’ इति । अयमर्थः—अद्रवत्वे सति मूर्तिमत्वे सति प्राणिस्थ-त्वे सति विकारजमिन्नन्तविमिति सुखेदा, अत्र न, द्रवत्वात् । सुज्ञाना, अमूर्तत्वात् । सुमुखा शाला, अप्राणिस्थत्वात् । सुशोफा विकारजत्वात् । द्वितीयलक्षणं हि—‘अत-स्थं तत्र दृष्टं च’ तथाद्यर्थः—सम्प्रति प्राणिस्थत्वाभावेऽपि प्राणिनि दृष्टं यत् तदपि स्वाङ्गमिति । सुकेशी सुकेशा वा रथ्या अत्र केशस्य सम्प्रति प्राणिस्थत्वाभावेऽपि प्राणिनि दृष्टत्वात् । तत्र स्वाङ्गत्वेन डीप्तिसिद्धिः । तृतीयलक्षणं हि—‘तेन चेतत्-थायुतं’—अयमर्थः—येन अङ्गेन प्राणिरूपं वस्तु यथायुतं तेन तत्सङ्गेन अङ्गेन तत् अप्राणिरूपं वस्तु तथा प्राणिवस्तुतं-युक्तं; चेद् तदपि अप्राणिनि दृष्टं स्वाङ्गमि-ति । ‘सुस्तनी, सुस्तना वा प्रतिमा । अत्र प्राणिवत् प्राणिसङ्गे स्थितत्वात् स्वाङ्गत्वेन डीप्तिसिद्धिरित्यलम् ।

प्रश्नः—“जातेरखीविषयादयोपधात्” अत्र जातिपदेन किम् ग्रा-द्यायम् , तथ्याः फलं च प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“जातेरखीविषयाद्” इति सूत्रे जातिपदेन त्रिधा जातिर्गृह्यते । तत्र प्रथमलक्षणम्—‘आकृतिग्रहणा जातिरिति । आकृतिः—अवयवसन्निवेशविशेषः : ईदृशाकारो गौरित्युपदिष्टे पुच्छकाङ्गूलाद्याकृतिर्दर्शनेन गवादिषु जातिर्गृह्यते, तथाद्यनुगतेऽपि अनुगतमेकाकारेण प्रतीतं यत्संस्थानम्—अवयवसन्निवेशः । तेन व्यङ्घ्या या, सा जातिरित्यर्थः । तथाहि—नद्यादीनां जलसमीपदेशो यत्र यत्र वर्तते; तत्र तट इति बुद्धिर्जायते; इति तटशब्दादपि जातिलक्षणो डीप् भवति । परं च पृतत् लक्षणं वृषलत्वादीनां जातित्वे साधकं न भवति यतः—हस्ताद्यवयव-सन्निवेशो यथा ब्राह्मणादीनां वर्तते; तथा शूद्रस्यापि, इति प्रथमलक्षणेन न गतार्थ-त्वम् । अत उच्यते—‘लिङ्गानां च न सर्वभाक्’ इति । एकस्यां ब्राह्मणादिव्यकौ षक्वारं कथनात्-उपदेशात्, द्वितीयव्यक्तौ कथनं विनापि जातेज्ञानं सुलममि-ति वृषलत्वादीनां सिद्धिः । ननु एताभ्याम् औपगवी कठोर्यादेसंप्रहो; अनु-गतसंस्थानव्यक्त्यत्वाभावात् । सर्वलिङ्गत्वात्; इति वेद् ? उच्यते—‘गोत्रं च चरणे:

सह” इति । अपत्यप्रत्ययान्तः चकारात् शास्त्राध्येत्वाची च शब्दो जातिकार्ये
कभते हत्यर्थः । एवं च औपगवी कठात्यादेः सिद्धिरिति दिक् ।

प्रश्नः—“नृनरयोर्वृद्धिश्च” इत्यत्र नृशब्देनेष्टसिद्धेनरप्रहणस्य कि-
सफलं तदर्थय ।

उत्तरम्—नु नारीत्यत्य नृशब्दात् प्रकृतवार्तिकेण आच्चो वृद्धया “ऋन्ने-
म्यो डीप्” इति डीपा, नारीत्यत्य च “धुयोगादाख्याम्” इति डीषा च सिद्धौ
वार्तिके नश्प्रहणं व्यर्थमिति चेद् ? न । नरत्वजातिमात्रप्रतिपादनेच्छायां नरी-
त्यत्य व्यावृत्यर्थत्वेन सारथक्यात् । न च नरशब्देऽच्छ्रव्यस्य सत्वेन कस्य वृद्धिरिति
न शङ्खनीयम् । लक्ष्यानुसारादादेवाचो वृद्धेः स्वीकारादित्यकम् ।

इति श्लोप्रत्ययाः ।

अथ विभक्त्यर्थः ।

प्रश्नः—प्रातिपदिकार्थं निरूप्य लिङ्गप्रहणं सफलय ।

उत्तरम्—स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकारकेति पञ्चविधः प्रातिपदिकार्थः इति
पक्षे स्वार्थद्रव्यलिङ्गेति त्रिविधं प्रातिपदिकार्थः इति पक्षे च प्रातिपदिकार्थेनैव लि-
ङ्गस्यापि ग्रहणे सिद्धै लिङ्गप्रहणं व्यर्थं सत् ‘नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः’
इति विलक्षणप्रातिपदिकार्थं बोधयति । तथाहि—निपूर्वकयमधातोर्ध्यापकत्वमर्थः,
तथा च नियता व्यापिका उपस्थितिर्थत्य स नियतोपस्थितिकः । यहिमन्प्रातिप-
दिके उच्चारिते सति यस्यार्थत्य नियमेनोपस्थितिः स प्रातिपदिकार्थः । एवत्वा-
नियतलिङ्गकेभ्यतादिशब्देभ्यो लिङ्गस्य नियतोपस्थितिकत्वाऽभावेन प्रातिपदि-
कार्थपदेनाऽप्रहणात् ततः प्रथमोत्पत्तिरिति तदर्थमावश्यकं लिङ्गप्रहणमिति । तटः
तटी, तटमित्यादौ तटादिशब्दानां पुलस्त्वस्त्रोत्वक्लोबृत्वबोधकत तत्प्रत्ययसमभिव्या-
हारात्सकललिङ्गबोधकत्वे ततः कल्यापि लिङ्गस्य नियतोपस्थितिकत्वाऽभावात्तद्वा-
ध्यलिङ्गस्य प्रातिपदिकार्थपदेनाऽप्रहणात्प्रथमाऽनुत्पत्या तदर्थं लिङ्गप्रहणस्याऽवश्य-
कत्वमिति यावत् । कृष्णः श्रोः ज्ञानम् , उच्चैः नीडैः इति अलिङ्गा नियतलिङ्गा-
श्च प्रातिपदिकार्थं हत्यत्योदाहणम् ।

प्रश्नः—‘द्रोणा ब्रीहिः’ भस्य साधुत्वं प्रदर्शनीयम् ।

उत्तरम्—नु द्रोणादीनां परिमाणमर्थ इति तेभ्यः प्रातिपदिकार्थमात्र एव

प्रथमासिद्धौ परिमाणग्रहणं व्यर्थमिति चेद् ? न । परिमाणग्रहणाभावे प्रातिपदिकार्थं प्रथमाविधानात् प्रातिपदिकार्थस्य प्रत्ययार्थत्वात् द्वोणस्याभेदान्वयः । प्रत्ययार्थस्य च तस्योक्तसम्बन्धेन व्रीहावन्वयः । तथा च द्वोणाभिज्ञो व्रीहिरिति बोधः स्यात् । परमेतद्वाधितम् ‘नामार्थद्वयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्नः’ इति व्युत्पत्तिविरोधात् । तस्मात्परिमाणंग्रहणमावश्यकम् । कृते हि परिमाणग्रहणे द्वोणशब्दात् प्रथमाविधानेन परिमाणस्य प्रत्ययार्थत्वात् तत्र प्रकृत्यर्थस्य द्वोणस्याभेदेन—अर्थादितरसम्बन्धानवच्छिन्नतिशेषणविशेष्यभावसम्बन्धेनान्वयः । प्रत्ययार्थस्य परिमाणस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहावन्वयः । एव च द्वोणाभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छन्नो व्रीहिरिति फलतीति दिक् ।

प्रश्नः—एकः, द्वौ, बहवः इत्यत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमया कुतो नेष्टसिद्धिरिति युक्तियुक्तमुच्यताम् ।

उत्तरम्—ननु पञ्चकं प्रातिपदिकार्थं इतिनये बहुशब्दस्य संख्याया अपि प्रादिपदिकार्थत्वात् बहुशब्दात्प्रथमासिद्धौ सूत्रे वचनग्रहणं व्यर्थमिति चेद् ? न, ‘उक्तार्थानामप्रयोगः’ इति न्यायविरोधेन बहुशब्दात्प्रातिपदिकार्थं प्रथमाऽप्राप्त्या तदर्थमिह वचनग्रहणस्यावश्यकत्वेन सार्थक्यात् । बहुर्थे विभक्तिर्विधेया स चार्थः प्रकृत्यैव प्रतिपादित इति तस्याभिधानाय उनर्विभक्तिर्विशिष्यका । यथा—घटोऽस्ति कलशः इति न भवति, इत्यभिप्रायकः “उक्तार्थानामप्रयोगः” इति न्यायविरोधो दुर्वार इति वचनग्रहणमावश्यकम् । न च वचनग्रहणसत्त्वेऽपि उक्तन्यायविरोधो दुर्वार इति वाच्यम् । वचनग्रहणसामर्थ्यादुक्तन्यायवाधेन विरोधपरिहारात् । न च एकद्विशब्दाद्विवचनबहुवचनान्यपि स्युरिति वाच्यम् । अनन्वितार्थकविभक्तिकल्पनापेक्षयाऽनुवादकविभक्तेरेव न्याययत्वादिति दिक् ।

प्रश्नः—“कर्तुरीप्तिततमं कर्म” इति सूत्रे कर्तुरित्यस्याभावे काऽनुपपत्तिरिति तस्मपष्ठं सोदाहरणं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु कारकाधिकाराद्वयापारकाभावेन कर्तुराभेषात् कर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलवत्वप्रकारिकेच्छानिरूपितविषयताऽश्वयः कर्मत्वये ‘देवदत्तो ग्रामं गच्छति’ इत्यादौ देवदत्तकर्तृवृत्तिव्यापारः उत्तरदेशसंयोगानुकूलरूपः, तत्प्रयोज्यं फलमुच्चरदेशसंयोगरूपं तादृशफलवत्वपकारिकेच्छा मद्वृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलाऽश्वयो ग्रामो भवतिवित्याकारिका तादृशेच्छानिरूपिता विषयता ग्रामनिष्ठा तादृशविषय ग्रा-

अश्रयस्य ग्रामस्य कर्मत्वे सिद्धे कर्तुर्ग्रहणं व्यर्थमिति चेद् । न । तस्य प्रकृतधातु-पात्तव्यापाराश्रयकर्तुर्ग्रहणेन सार्थक्यात् । अन्यथा माषेषु प्रसक्तमइवं माषनाशो मा भूदित्यन्यत्र बधनातीत्यर्थके ‘माषेष्वव्यवे बधनाति’ इति प्रयोगे माषभक्षणकर्तुर्श्रयस्य मदवृत्तिभ्यापारप्रयोज्यगलबिलाधःसंयोगरूपफलाश्रयतया माषा भवनित्वतीच्छा-यासस्त्वादधिकरणसंज्ञाम्बाधित्वा माषाणां कर्मत्वापत्तेः । प्रकृतधातूपात्तव्यापा-राश्रयकर्तुर्ग्रहणे तु नोक्तदोषेः । अश्रस्य प्रकृतधातूपात्तव्यापाराश्रयत्वाऽभावे-नाऽप्रहणात् ।

प्रश्नः—“कर्तुरीप्सिततमम्” इति सूत्रे तमव्य्रहणफलं कर्मग्रहण-प्रयोजनञ्च साधु प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“कर्तुरीप्सिततमम्” इत्यत्र ‘अवयवद्वारा समुदायस्य प्रश्नः’ अर्थादीप्सिततमव्य्रहणं किमर्थम् ? ‘कर्तुरुद्देश्यं कर्म’ इत्येव सूत्रमस्तु । तथाच—कर्तुः यद् उद्देश्यं तत्र कर्मसंज्ञा स्यादित्यथेन ‘हरिं भजति’ इत्यत्र हरिः फलाश्र-यत्वेनोद्देश्यमस्तीति तत्र कर्मसंज्ञा सिद्धा भवति । अथ च कृतभोजनस्य पुरुष-स्य पयो लोभेन उनरपि भोजने प्रवृत्तौ सत्यां ‘पयसा ओदनं भुद्धक्ते’ इति प्रत्युदाह-रणेऽपि लोभाद्वेतोः पयसोऽप्युद्देश्यत्वेन तस्य कर्मत्वापत्तिः । ईप्सिततमव्य्रहण-सत्वे तु पयसः कर्तवृत्तिभ्यापारप्रयोज्यगलबिलाधःसंयोगरूपफलाश्रयत्वाभावान्नो-कापत्तिः । तथाहि—‘पयसा ओदनं भुद्धक्ते’ इत्यत्र कर्त्ता देवदत्तः, तदवृत्तिभ्या-पारो गलबिलाधःसंयोगानुकूलरूपस्तप्तप्रयोज्यं फलं गलबिलाधःसंयोगरूपं तदा-श्रयत्वप्रकारिकेच्छा—ओदनो गलबिलाधःसंयोगवान् भवतु इत्याकारिका, न तु पयो गलबिलाधःसंयोगवद् भवतु इत्याकारिका, प्रताङ्गेच्छोद्देश्यताश्रय ओ-दनो, न तु पयः, इति ओदनस्यैव कर्मसंज्ञा भवति, न तु पयस इति दिक् ।

कर्मग्रहणप्रयोजनम्—यद्यपि “अधिशीहृस्थासां कर्म” इत्यतः कर्मपदा-नुवृत्तिः समभवति, तथापि तत्राधार इत्यत्यानुवृत्तरैत्रापि तत्सम्बद्धस्यैव कर्मपद-स्यानुवृत्तिः स्यात् सा मा भूत् इति कर्मग्रहणं क्रियते । अन्यथा ‘गेहं प्रविशति’ इत्यश्वैव कर्मसंज्ञा स्यात् ‘हरिं भजति’ इत्यादौ न स्यादिति ।

प्रश्नः—“अकथितञ्च” इति सूत्रस्य सार्थसमन्वयमुदाहरणं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—गां दोग्यिपयः, गोः सकाशात् पयः क्षारयतीत्यर्थः । अत्र क्षरणे गोरपादानत्वात् प्राप्तां पद्मर्मो बाधित्वा ‘अकथितञ्च’ इति कर्मस्ये द्वितीया ।

बक्षि याथते वसुधाम्—बलिकर्तुंकं वसुधाकर्मकं दानं प्रार्थयते हृत्यर्थः । अत्र कर्तुः कर्मस्त्वविवक्षायां द्वितीया । यद्वा बलिसम्बन्धवसुधाकर्मकं यहानं तत्प्रार्थयते हृत्यर्थः । गर्गणां शतं दण्डयति । ताडनादिना गर्गेभ्यः सुवर्णशतं गृह्णातीत्यर्थः । ग्रहणं हि—परकीयद्रव्यस्य परस्त्वविनिवृत्तिपूर्वकं स्वोकरणम् । तत्र स्वत्वविश्लेषे अपादानतत्वं प्राप्तम् । तदु अनाहृत्य कर्मस्त्वविवक्षायां द्वितीया हृत्यादि ।

प्रश्नः—‘अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा’ अत्र किम्प्रमाणं तदुपपाद्य ।

‘उत्तरम्—“अकथितम्” इत्यनेन या संज्ञा साऽर्थनिबन्धना—अर्थनिमित्तिका, न तु स्वरूपाश्रया—स्वरूपनिमित्तिकेति यावत् । नचैत्सूत्रविहितकर्मसंज्ञाया अर्थनिमित्तकत्वे किम्प्रमाणमिति वाच्यम् । तद्राजसूत्रस्थभाष्यकैयत्ययोरेव प्रमाणत्वात् । तथाहि—तत्र ‘अहमपीदमचोद्यं चोद्ये’ इत्युक्तम् । असौ अस्मान्नामचोद्यं चोदयति इति तदर्थः । तत्र पृच्छिपर्यायस्य चुदेरपि द्विकर्मस्त्वं दृश्यते । इति तदेवान्न प्रमाणम् । अन्यथा—स्वरूपनिमित्तकत्वाभ्ये उक्तभाष्यकैयटी व्याकुप्येतामिति दिक् ।

प्रश्नः—गतिबुद्धिसूत्रस्य सार्थसमन्वयमुदाहरणं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—गत्याद्यथानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणो यः कर्ता स जौ कर्म स्थादिति सूत्रार्थः । ‘शत्रून् गमयत्स्वर्गम्’ इति गत्यर्थकस्योदाहरणम् । शत्रवः (युद्धे-मृताः) स्वर्गमगच्छन् । हरिस्तान् प्रैरिदिति हरिः शत्रून्स्वर्गमगमस्यत् । अत्र गमेरण्यन्तावस्थायां शत्रवो गमनक्रियां प्रति कर्तारः, स्वर्गस्तु कर्म । एयन्तावस्थायान्तु णिजवाच्यां प्रयोजकव्यापारात्मिकां शत्रवातक्रियां प्रति वातयिता हरिः कर्ता । शत्रूणान्तु “गतिबुद्धि” इति सूत्रेण कर्मत्वम् । तेन णिजवाच्ये शत्रु-वश्वात् द्वितीया । स्वर्गकर्मकं शत्रुनिष्ठं यद्यमनं तदनुकूलो यन्निष्ठो व्यापारः स श्रीहरिमें गतिरस्तु इति वाक्यार्थः । स्वे-स्वकीया, वेदार्थमविदुस्तान् श्रीहरिवेदार्थमवेद्यत् । तथा—देवा अमृतम् आशनन्, श्रीहरिस्तान् अमृतम् आशयत् । विधिः वेदमध्यैत, तं ब्रह्माणं श्रीहरिः वेदमध्यापयत्—अपाठयत् । सलिले पृथिवी आस्ते, तां यो हरिराशयत्—स्थापयति स्म । स श्रीहरिः मे गतिरिति वाचत् ।

प्रह्लः—“गतिबुद्धी” इति सूत्रं विध्यर्थम् त नियमार्थमिति प्रदर्शय ।

उत्तरम्—एयन्ते उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापाराग्रामुक्तलव्यापारः, हृत्याधर्थं जिनिभिस्तकर्मतः^५ गम्भूषात्वर्थं निरुपितकर्त्तव्यं प्राप्तम् हृति परत्वात् फूटूसज्जैव

अवति । प्रथमव्यापाराक्षयत्वेन कर्तुंसंज्ञा, द्वितीयव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वेन कर्म-
संज्ञा च प्राप्नोति । अन्तरङ्गाऽपि कर्तुंसंज्ञा, अथ च यावत् ‘गमयति देवदत्तं यज्ञदत्तः’
इत्यादौ देवदत्तस्य कर्तुंसंज्ञा न जायते, तावत् हेतुसंज्ञैव न स्यात् । यतः कर्तुंप्रयो-
जकस्य हेतुसंज्ञा भवति, अथ च हेतुसंज्ञां विना णिजपि न स्यादिति । कर्मसंज्ञाया-
मुपजीडधत्तापि कर्तुंसंज्ञा । पवच्छोकहेतुभिदेवदत्तस्य कर्तुंसंज्ञैव सिद्धा भवतीति “ग-
तिबुद्धिः” इत्यादि सूत्रं विद्यर्थमिति मनोरमाकारादोनां सतम् ।

भाष्यकारस्त्वाह—प्रयोजकव्यापारे, शब्दतः प्राप्तान्यमथ चान्यान्धीनत्वलक्ष्म-
णार्थप्राधान्यश्च वर्तते, इति प्रधानकार्यं बलवत्, इति न्यायेन प्रधानाश्रयकर्मसंज्ञैव
देवदत्तस्य सिद्धेति “कर्तुः” इत्यनेनैव कर्मत्वे सिद्धे “गति” इत्यादिसूत्रं णिजर्थव्यापा-
रप्रयोज्यफलाश्रयस्य कर्मसंज्ञा चेत्तर्हि गत्याद्यथानामेव कर्तुरिति नियमयति । तेन
‘पाचयति देवदत्तेन’ इत्यादौ कर्मसंज्ञा न भवतीति कलमित्यलम् ।

प्रश्नः—येषां देशकालादिभित्रं कर्म न संभवति तेऽत्राकर्मकाः,
नत्वविवक्षितकर्मणेऽपि, इत्यत्र प्रमाणं कौमुदीकारर्त्तिया, प्रदर्शाय ।

उत्तरम्—ननु “गतिबुद्धिः” इति सूत्रे अकर्मपश्य न विद्यते कर्म येषाभि-
त्यर्थं सकर्मकाणामपि कर्मणोऽविवक्षयाऽकर्मत्वात् देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ देवदत्त-
स्यपि कर्मत्वार्पत्तिरित्यत आह—येषां देशकालादि इति । अयम्भावः—नियम-
स्य सजातीयापेक्षन्वात् “गतिबुद्धिः” इति सूत्रस्य सकर्मकधातुप्रकृतिकणिजर्थव्या-
पारप्रयोज्यफलाश्रयाणां कर्मत्वं चेत्तर्हि गत्यर्थदीनामेवेति नियमार्थत्वेन ‘आसयत्
सलिले पृथिवीम्’ इत्यादौ पूर्वसूत्रेण कर्मत्वसिद्धौ सूत्रेऽकर्मकपदस्य सामर्थ्याद्वदेश-
कालादिभित्रकर्मभावतो ग्रहणम् । तेन देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ देशकालाद्यतिरिक्तस्यौदनादिरूपकर्मणः सत्वेन तदविवक्षणेऽप्यकर्मकपदेनाग्रहणमिति नोक्तदोषः ।

प्रश्नः—“अभिनिविशश्च” इत्यनेन ‘पापेऽभिनिवेशः’ इत्यत्र कर्म-
त्वं कथञ्च तद्युक्तियुक्तं प्रदर्शाय ।

उत्तरम्—“परिक्यणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्” इति सूत्रादन्यतरस्याम् ग्रह-
णमत्रानुवर्तते । ननु “परिक्यणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्” “आधारोऽधिकरणम्”
“अधिष्ठीकृत्यासां कर्म” “अभिनिविशश्च” इति सूत्रक्रमः । तत्र “अभिनिविशश्च”
इत्यत्र कथमन्यतरस्याहप्रणामुद्वृत्तिः । “आधारोऽधिकरणम्” “अधिष्ठीकृत्यासां
कर्म” इत्यत्र च तदनुवर्तनाभावात् । इति चेद् ? न । मण्डकप्लुत्या तद्युक्तेः स्वी-

कारात् । अन्यतरस्याम् इत्यस्य व्यवस्थितविभाषात्वज्ञ स्वीकृत्य क्वचित् आधारस्य कर्मसंज्ञा न भवतीति ‘पापेऽभिनिवेश’ इत्यन्न कर्मत्वाभावः । प्रमाणज्ञ—‘एवथें व्यभिनिविष्टानाम्’ इति भाष्यम् ।

परे तु-उक्तभाष्यप्रयोगेण यत्र ‘अभिनिविश्वा’ इत्यनुपूर्वार्थं विकारो न भवति, तत्रैव कर्मसंज्ञा भवति । ‘पापेऽभिनिवेशः’ इत्यत्र इकारस्य एकाररूपविकारो जातः, इति तत्र कर्मसंज्ञा न भवेदित्यनुवृत्त्यादिकलेशो वृथैवेत्याहुरिति दिक् ।

प्रश्नः—“अनुरूपक्षणे” इत्यस्य कथं गत्युपसर्गसंज्ञाया अपवाद-त्वम् । कथञ्च परापि “हेतौ” इति तृतीयाऽनेन बाधयते, इति युक्तिशुक्तं प्रदशय ।

उत्तरम्—ननु जपमनु प्रावर्षदित्यन् वृष्टिं प्रति अनोर्योगाभावेन क्रियायो-गाभावादेतयोः संज्ञयोः प्राप्त्यभावात् कथं तदपवादत्वमस्याः संज्ञाया इति चेद् ? उच्यते—गम्यमाननिश्चमनक्रियापेक्ष्य तयोः प्राप्तिस्त्वीति सम्भावनामात्रेण मूलस्य निर्बाधत्वात् । न चेवं कर्मत्वादेव द्वितीयासिद्धौ किमनया संज्ञयेति वाच्यम् । जपस्य निश्चमनप्रयुक्तहेतुत्वारूपसम्बन्धविवक्षया कर्मत्वाभावेन तृतीयायां प्राप्तायां तदारम्भात् ।

एवज्ञ “अनुरूपक्षणे” इत्यनेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां “कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया” इति द्विनीयायां ‘जपमनु’ इति वाक्यघटकजपमित्यस्य सिद्धिः । लक्षणत्वज्ञ—ज्ञानजनकज्ञानविषयत्वम् । लक्षयत्वन्तु ज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वम् । तथाच जपस्य वर्णज्ञानजनकज्ञानविषयीभूतत्वात्लक्षणत्वेन तत्त्वमनुष्ठोत्ये सति अनोः कर्मप्रवचनीयत्वेन तद्योगे लक्षणवाचकाजजपशब्दाद् द्वितीया । जपाऽभिन्न-हेतुज्ञानजन्यज्ञानविषयं वर्णणमिति यावत् ।

लक्षणे—कर्मप्रवचनीयसंज्ञाया अवकाशः, यो न हेतुः ‘वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्’ इति, हेतुतृतीयाया अवकाशो ‘धनेन कुरुम्’ इत्यादि । ‘जपमनु प्रावर्षत्’ इत्यत्र तु हेतुभूते लक्षणे परत्वाच्चृतीया स्यात्ताम्बाधित्वा ‘अनुरूपक्षणे’ इति पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्याद्वितीयैव स्यादित्यलम् ।

प्रश्नः—‘सर्पिषोऽपि स्यादिति फक्षिककां सम्यगुपपाद्य ।

उत्तरम्—‘सर्पिषोऽपि स्याद्’ इत्यत्र “अपि: पदार्थसम्भावन” इत्यादि सूत्रेण अपिशब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानेनोपरि संज्ञाया वाचाद् “षुपुसर्गप्राप्त-

स्याम्” इति स्यादित्यस्य सकारस्य षट्वनेत्यर्थः । पदस्याप्रयुज्यमानपदान्तर-स्यार्थः पदार्थः, तथोतकोऽपि कर्मप्रवचनीयसंज्ञकः । एवज्ञाप्रयुज्यमानस्य बिन्दुरि-त्यादे: पदस्यार्थोऽपिद्योत्यः । “उपसंवादाशङ्कयोश्च” इति सूत्रस्थभाष्यपठिनेन “उ-पसंवादाशङ्कयोलिङ्” इति वातिकेन संभावनायां लिङ् । तत्राशङ्कोत्प्रेक्षा संभाव-नापि उत्कटकोटिकाऽशङ्कैवेति भावः । तस्याः सम्भावनाया विषयोभूते भवने कर्तृ-दौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्यत्वरूपसंबन्धोऽपिद्योत्यः, बिन्दुना कर्तृत्वादुक्तसंबन्धेन स्या-त्पदवाच्यकियायामन्वीयत इत्यर्थस्तदाह (मूल)—अपि शब्दबलेनेत्यादि । एवज्ञ सर्पितवयवबिन्दुदौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्यवती तत्कर्तृका सम्भावनेति बोधः ।

नन्वेवं कर्मप्रवचनीयसंज्ञकापिधोत्येऽथं सर्पिषोऽन्वयेन तस्य कर्मप्रवचनीययुक-त्वात् द्वितीया स्यादिति ? तत्र । सर्पिषो बिन्दुना योगात् नत्वपिनेत्युक्तत्वात् । न च परमपरया तेनापि योग एवेति वाच्यम् । कर्मप्रवचनीयधोत्योक्तसम्बन्धेनापिश-ब्देऽन्वयाभावात् ।

प्रश्नः—“साधकतमं करणम्” इत्यस्मिन् सुत्रे तमब्रह्मणाभावे ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यत्र कथं दोष आपादितः, कथं च तस्य निरासः कृतः, तदुपपादय ।

उत्तरम्—करणमिति महासंज्ञया ‘क्रियतेऽनेन, इत्यन्वर्थबोधनेन क्रियासि-द्दिसाधकस्यैव करणसंज्ञासिद्धौ साधकपदमेव साधकतमार्थं भविष्यतीति कि तमब्र-ग्रहणेनेति प्रष्टुराशयः । उक्तरीत्या व्यर्थं सत्तमब्रह्मणं ‘अस्मिन्कारकाधिकारे प्रक-र्षविवक्षा नाश्रीयत, इति ज्ञापयति । तेन च ‘गङ्गायां घोष’ इत्यत्र सप्तमी सिद्धय-ति । अन्यथा तुलयन्यायेन ‘अधिकरणम्’ इत्यपि महासंज्ञया ‘अधिक्रियते ऽस्मिन्, इत्यन्वर्थत्वेनैवाधारलाभे आधारपदमाधारतमार्थं भविष्यति । तथा सर्वावयवव्या-प्यो य आधारस्तत्वयैवाधिकरणसंज्ञायां तिलेषु तैलम्, दधनि सर्पिः, सर्वस्मिन्नात्मास्ति, इत्यादावेवाधिकरणसंज्ञा स्याच्चतु ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादावपि । अत-स्तद्वेषवारणार्थमपि तमब्रह्मणमिति फलम् ।

प्रश्नः—“अनुर्लक्षणे” “हेतौ” “स्पृहेरीपिसतः” । इमानि सूत्राणि सोदाहरणानि व्याख्येयानि ।

उत्तरम्—लक्षणे—लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धे, धोत्ये ऽनुः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । पर्जन्यो जपमनुप्राप्तवर्षद् इत्युदाहरणम् । (कदा पर्जन्योऽवर्षदिति प्रश्ने

उत्तरमिदम् । अत्र वृष्टिकाल उपदेशः (स च दुर्जानत्वात् शाखाग्रं प्रति द्विकक-इचन्द्र इतिवत् प्रज्ञानं किञ्चिद्वक्षम्भवे ज्ञात्यः) जपः प्रज्ञानम् । हेतुभूतजपोप-लक्षणम् वर्षहेतुभूतवक्षणजपोत्तरकाले पर्जन्यः प्रावर्षत् । तत्र लक्षणत्वं हेतुत्वव्यवेति द्वयं तृतीयार्थः, तदुभयमनुना ओत्यते । यथाप्यत्र “लक्षणेत्थमभूत्” इत्यादिना सिद्धेः पुनः संज्ञाविधानसामध्यांश् परापि “हेतौ” इति तृतीयाऽनेन बाध्यते ।

हेतौ-हेत्वये, तृतीया स्थादिति सूत्रार्थः । ननु हेतोरपि करणत्वादेव तृतीयासिद्धेः किमर्थमिदमिति चेद्, न । हेतुत्वकरणत्वयोभेदात् । तथाहि-द्वयं गुणं क्रियाङ्गं प्रति-यज्जनकं तत्र सर्वत्र हेतुर्वर्तते, किञ्च द्वारीभूतव्यापारवत्ति तद्रहिते च सः क्रियाज-नकमात्रवृत्तिं व्यापारवृत्तिं च यत्तदेव करणम् । दण्डेन घटः इत्युदाहरणे घटं प्रति-दण्डो हेतुः, दण्डे व्यापारसत्वेऽपि क्रियाजनकत्वाभावात् करणत्वं न । पुण्येन छष्टो हरिरित्युदाहरणे हरिदर्शनं प्रति पुण्यस्य हेतुत्वम्, पुण्यस्य हरिदर्शनजनकत्वेऽपि निर्व्यापारत्वान्न करणत्वम् । अत्र हेतुपदेन फलमपि गृह्णते, तेन अध्ययनेन वसति इत्यत्र वासफलमध्ययनेऽपि विवक्ष्यते अतोऽध्ययनहेतुत्वात् तृतीया सिद्धा ।

स्पृहेरीप्सितः—स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्थात् । ‘पुष्पेभ्यः स्पृह-यति’ इत्युदाहरणम् । यदा तु ईप्सितत्वमात्रस्य विवक्षा; न तु प्रकर्षत्य, तदा परत्वात् कर्मसंज्ञायां ‘पुष्पाणि स्पृहयति’ इत्यपि भवति ।

प्रश्नः—अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिरिति पंक्तिर्थाख्येया ।

उत्तरम्—ननु हरिभक्षिभिलषतीत्यत्रापि भक्तेः प्रीतिविषयत्वात् सम्प्र-दानत्वं स्थादत आह—अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिरिति समवायेन प्रीत्याश्रयापे-क्षया यद्यन्यत् तत्कर्तृकोऽभिलाषो रुच्यात्वर्थः । प्रीत्याश्रयकर्तृकः किञ्चिद्विषयक इच्छाविशेषोऽभिलाषः । तथाचाभिलषतेः रुच्यर्थकत्वाभावान्न तद्योगे सम्प्रदान-त्वम् । उदाहरणे च प्रीत्याश्रयो हरिः तदपेक्षया यद्यन्यत् भक्तिः तत्कर्तृकैकप्रीति-रिति रुच्यर्थोगः । ननुदाहरणे भक्तेः सम्प्रदानत्वं कुतो न स्थात् । विषयतास-उबन्धेन भक्तेरपि प्रीत्याश्रयत्वादित्यत आह—हरिनिष्ठेत्यादि । हरेरेव समवाय-सम्बन्धेन प्रीत्याश्रयतया प्रीयमाणत्वात् भक्तेः कठर्या उक्तरीत्या प्रीयमाणत्वाभा-वाच्च न सम्प्रदानत्वमिति ।

प्रश्नः—घने छपषसति, नदीमन्वसिता सेना, क्रोशं कुटिला नदी, शताय परिकीर्तः, आमुकतेः संसारः, शतस्य दीव्यति, पञ्च विशेष-

भक्तिविधायकानि प्रदर्श्य ‘सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये’ इतिसूत्रं सोद्द-
हरणं व्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—यने उपवसति ‘उपान्वधयाङ्गुवसः’ इति सूत्रेण प्राप्तस्य वसेरा-
धारस्य कर्मत्वस्य ‘अभुक्त्यर्थस्य न’ इति वार्तिकेन प्रतिषेधात् आधारसप्तम्येव ।
नदीमन्ववसितेति—‘तुतीयायेऽन्वेति, इति सूत्रेणानोः कर्मप्रवचनीयत्वे तथोगे नदीमि-
त्यन्व ‘कर्मप्रवचीययुक्ते द्वितीया’ इति द्वितीया । ‘क्रोशं कुटिला नदी’ हत्यन्व
“कालाङ्गनोरत्यन्तसंयोगे” इति सूत्रेणाङ्गन्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया । शताय परि-
क्रीतः “परिक्यणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्” इति सूत्रेण छवणांदियत्किञ्चिद्वृद्ध्यश-
तस्य परिक्यणे साधकतमस्य सम्प्रदानत्वे चतुर्थी । आमुक्तेतिरिति “आङ्गमर्यादा-
वचने” हत्याङ्गः कर्मप्रवचनीयत्वे तथोगे ‘पञ्चम्यपाङ्गपरिमिः’ इति पञ्चमी । शतस्य
दीर्घ्यतीत्यन्व “दिवस्तदर्थस्य” इति कर्मणि षष्ठी । सप्तमीपञ्चम्याविति—अत्र
कारकशब्दः कर्तृत्वादिवाक्षिपरः न तु कर्त्रादिपरः । कारकयोर्मध्ये कारकमध्यं तस्मिन्
कारकमध्ये । शक्तिकार्यमध्ये यौ कालाङ्गनौ ताम्यामेते स्तः इति सूत्रार्थः । अद्यभु-
क्त्वाङ्गं द्युद्युद्याद्वा भोक्ता । यद्यप्यन्व कर्ता एकएव, तथापि कर्तृपदेन कर्तृशक्तिगृह्ण-
ते, तस्याङ्गकालभेदेन भिन्नत्वात् कारकमध्यत्वं निर्बाधमत एव चात्र सूत्रे कारकपदेन
शक्तेर्हणमिति । इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद्वा लक्ष्यं विद्येत् कर्तृत्वकर्मत्वरूपशक्त्यो-
र्मध्येऽयं देशः । अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्याविद्येते ‘तदस्मिन्नधिकम्’ इति
“यस्मादधिकम्” इति च सूत्रनिदेशात् लोके लोकाद्वा अधिको हरिः ।

प्रश्नः—वहिर्योगे पंचमीत्यन्व कि प्रमाणं तत् प्रदर्श्य “कर्तृकर्म-
णोः कृति” इति सूत्रे इतिग्रहणं सम्यक् प्रतिक्षिप्य तत्प्रयोजनं साधु
समर्थताम् ।

उत्तरम्—वर्जनार्थयोरपयोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां तयोर्योगे “पञ्चम्यपाङ्ग-
परिमिः” इति सूत्रेण पञ्चम्येव भविष्यतीति तयोः साहचायेणाङ्गुत्तरपदयोगेऽपि
पञ्चम्या एव सिद्धत्वेन पञ्चम्यन्तेनासमासे सिद्धे “अपपरिविहिः” इति सूत्रे पंचमी-
पदं व्यर्थं सत् वहिर्योगे पंचमी भवतीति ज्ञापयति । तेन ग्रामाद्विहिरिति सिद्धम् ।

कृतपूर्वीकटमिति—

उत्तरम्—क्रियाजनकत्वं कारकत्वमिति सिद्धान्तेन “कर्तृकर्मणोः कृति”
इति सूत्रे कर्तृकर्मस्यां कारकाभ्यां क्रियाया आस्तेषो भवति । क्रिया च धातुवा-

च्या धातोश्च तिः; कृतइचेति द्विधा प्रत्ययः, तत्र तिःयोगे “न लोक” इति कर्मणि पष्ठया निषेधेन कृद्योग एव कर्मणि षष्ठी भविष्यतीति कृतिप्रहणम्भर्थमेव, तदेव व्यर्थं सत् यत्र कृदन्तमात्रशक्तिप्रयोज्यक्रियानिरूपितं कर्मत्वं तत्रैव कर्मणि षष्ठी स्यात् । यत्र तु तद्वितान्तप्रयोज्यक्रियानिरूपितं कर्मत्वं स्यात्तत्र माभूदिति ज्ञापयति । एवं च ‘ओदनस्य पावक’ हृत्यादौ कृदन्तमात्रप्रयोज्यक्रियानिरूपितं कर्मत्वं विद्धिते इति तत्र षष्ठी सिद्धयति । कृतपूर्वीं कटमित्यत्र तु तद्वितान्तप्रयोज्यक्रियानिरूपितं कर्मत्वमिति षष्ठी न भवति । केवलस्य कृतेति पदस्य योगे कर्मण उक्तत्वेन कृदन्तमात्रप्रयोज्यक्रियानिरूपितं कर्मत्वन्न संभवतीति दिक् ।

प्रश्नः—‘अधीति व्याकरणे’ अत्र सप्तमी केत स्त्रैण तदुपपादय ।

उत्तरम्—“कस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्” इति वातिकेन । सप्तमी । तथाहि—इन्प्रकृतेः कान्तस्य कर्मणि सप्तमीति तदर्थः । तेनाधीती व्याकरणे हृत्यत्र सप्तमो । कृतपूर्वीं कटमित्यत्र न सप्तमी । कान्तस्येन्प्रकृतित्वाभावात् अत्र न कर्मणि क्तः, किन्तु भावे; अन्यथा कतप्रत्ययेन कर्मण उक्तत्वात्तत्र सप्तम्यनापत्तेः । अधि-पूर्वकादिष्ठो भावे कते तत “इष्टादिभ्यश्च” इति कर्तव्ये हनौ ततो गुणभूतक्रिया स-म्बद्धयमानव्याकरणहृपकर्माण सप्तम्योक्तप्रयोगोपपत्तिरित्यलम् ।

इति विभक्त्यर्थः ।

अथाव्ययीभावसमाप्तिः ।

प्रश्नः—“भूतपूर्वे चरट्” इति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्वनिपात इति ग्रन्थसुपपाद्य ‘अधिहरि’ इति प्रयोगं साधय ।

ननु पूर्वे भूत इति विग्रहे सुपेति समासे सुपो लुकि सुबन्तं सुबन्तेन समस्यते इति समाप्तशास्त्रे सुबन्तं प्रथमानिर्दिष्टम् सुबन्तत्वञ्च द्वयोरप्यविशिष्टम् । ततश्च “प्रथमानिर्दिष्टं समाप्तं उपसर्जनम्” इति उपसर्जनत्वस्य द्वयोरप्यविशिष्टत्वात् “उप-सर्जनं पूर्वम्” हृत्यन्ततरस्य पूर्वनिपाते विनिगमनाविरहात् पर्यायेण द्वयोरपि पूर्वनिपातः स्यादिति चेद् , न । “भूतपूर्वे चरट्” इति निर्देशात् भूतशब्दस्यैव पूर्वनिपातो न तु पूर्वशब्दस्येति दिक् ।

अधिहरि— हरौ इति लौकिकविग्रहवाक्ये इति लि अधि हृत्यलौकिक-विग्रहवाक्ये “अध्ययं विभक्तिं” हृत्यादिना विभक्त्यर्थं अध्ययीभावसमासे “कृ-

त्तदित्” इति प्रातिपदिकत्वे “सुपो धातु” इति विभक्तेर्लुकि समासविधायकश-
स्त्रेऽव्ययमित्यस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वादधीत्यव्ययस्य “प्रथमानिर्दिष्टम्” इत्युपसर्जन-
संज्ञायां पूर्वनिपाते “अव्ययीभावश्च” इत्यव्ययसंज्ञायाम् अधिहरीति समुदायातु-
त्पन्नस्य स्फुः “अव्ययादाप्सुपः” इति लुकि ‘अधिहरि’ इति सिद्धयति ।

प्रश्नः—अधिगोपमिति प्रसाध्य विभाषाधिकारस्य सम्यग् फलं
प्रदर्शय—

उत्तरम्—गोपायतीति विग्रहे गुप्तातोः विच् “आयादय आर्थधातुके वा”
इत्यायप्रत्ययः ‘लोपो व्योर्वलि’ इति यलोपः “वेरपृक्तस्य” इति वकारलोपः ।
तदेवं गोपाशब्दः आकारान्तः गः पातीतिविग्रहे पातेर्विचि उपपदसमासे च
गोपाशब्दः । गोपि इति सप्तम्यथें “अव्ययं विभक्तिं” इत्यादिना विभक्त्यथें स-
मासे सुब्लुकि “अव्ययीभावश्च” इति समासस्य नर्पुसकत्वे “हस्वो नर्पुसके” इति
हस्वे समासादुत्पन्नस्य सोः स्थाने “नाव्ययीभावात्” इत्यमि “अमि पूर्वः” इति
पूर्वरूपे ‘अधिगोपम्’ इति निष्पत्तते ।

उत्तरम्—“विभाषा” अधिकारसूत्रमिदम् । ननु एकार्थीभावे समासस्य
व्यपेक्षायां वाक्यस्य च सिद्धौ सूत्रमिदं व्यर्थमिति चेद् ॥ न । लक्षणैकचक्षुष्कान्
प्रति क्व एकार्थीभावो नित्यः, क पाक्षिकः, क नादस्तीत्यर्थबोधनार्थं “विभाषा”
इति सूत्रस्याऽवश्यकत्वात् ।

ननु प्रागेव “विभाषा” अधिकारस्य कर्तुमुचितत्वादत्रैतत्करणसामर्थ्यादितः
पूर्वेणां नित्यत्वमेवेत्यवगम्यते । नचैव “सुप् सुपा” इत्यस्याऽपीतः पूर्वत्वान्नित्य-
त्वाऽपत्तिरिति वाच्यम् । तथा सति अनेनैव सिद्धे “अव्ययं विभक्तिं” इत्यादिना
समासविधानस्य वैयर्थ्यापत्तेः ।

प्रश्नः—आयतीगवम्, परोक्षम्, इमे शंकासमाधानम्-
वर्कं साधनीये ।

उत्तरम्—आयतीगवम् आयत्यो गावो यस्मिन् काले इति विग्रहे आयतीश-
बद्ध्य गोशब्देन सह “तिष्ठदग्गप्रभृतीनि च” इति समाप्तः तिष्ठदग्गवादोनां समुदाया-
नमेव निपातनात् आयतीशबद्धस्य पुंवद्भावाभावः, समासान्तष्ट्वा प्रत्ययश्च,
टचि आवादेशः । तेन आयतीगवमिति साधु ।

परोक्षम्—अक्षणः परमिति विग्रहे परमित्यस्याक्षिक्षादेन सह समासान्त-

विधानसामर्थ्यादव्ययीभावसमासे “प्रतिपरसमनुभ्योऽक्षणः” इति गणसूत्रेण स-
मासान्ते टचि सुब्लुकि “परोक्षे लिट्” इति निपातनात् परशब्दस्य ओकारादेशे
पररूपे च कृते तस्मात् यथायर्थं सुप अम्भावे परोक्षमिति निष्पन्नम् ।

ननु परोक्षाक्रिया इति कथमिति चेद् ? उच्यते । अक्षणः परमिति लौकिकवि-
ग्रहे ‘अक्षि छस् परम्’ इत्यलौकिकविग्रहे च “अदययीभावे शरत्प्रश्वतिभ्यः” इति
शरदादिगणे पाठात् समासान्तविधानात् अनठयत्रस्यापि परशब्दस्य समासे टचि
सुब्लुकि परशब्दस्य पूर्वनिपाते “परोक्षे लिट्” इति निपातनात् परशब्दस्य ओकारान्ता-
देशे पररूपे “यस्येति च” इति अक्षिशब्दस्य इकारलोपे परोक्षमिति निष्पद्यते । ततः
परोक्षमस्यास्तीत्यर्थे धर्मप्रधानात् परोक्षशब्दात् “अर्शं आदिभ्योऽच्” इति अच्-
प्रस्थये “यस्येति च” इत्यकारलोपे टापि च कृते परोक्षा क्रिया इति सिद्ध्यति ।

इत्यव्ययीभावसमासः ।

अथ तत्पुरुषसमासः ।

प्रश्नः—“द्विगुश्च” इति सूत्रं कथं त्यक्तुं शक्यते, तत् दर्शयित्वा
द्विगोऽत्पुरुषत्वे किञ्चकलमिति दर्शय ।

उत्तरम्—ननु “तत्पुरुषः” इत्यघिकारसूत्राऽनन्तरं “संख्यापूर्वो द्विगुश्च”
इति सूत्रकरणाच्चकारवलेन द्विगुतत्पुरुषयोः समावेशः स्यात् । न च चकारस्योक्त-
संज्ञाद्वयपर्यार्थत्वेन समुच्चयार्थत्वाऽभावात्कथमुभयोः समावेशः स्यादिति वा-
च्यम् । “संख्यापूर्वो द्विगुः” इति योगं विभज्य पूर्वेण “तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे
च” इत्यत्रोक्तस्य संख्यापूर्वस्य तत्पुरुषसंज्ञाविधानसामर्थ्यादेव पर्यायित्वसिद्धौ च-
कारस्य संज्ञाद्वयसमावेशार्थत्वाक्षते: । एवज्च “द्विगुश्च” इति सूत्रं त्यक्तुं शक्यते ।
द्विगोऽस्तपुरुषत्वे फलम्—पञ्चानां राजां समाहार इति विग्रहे “तद्वितार्थ” इति
द्विगुः, तस्य तत्पुरुषत्वात् “राजाहससखिभ्यष्टच्” इति टच् । “स नपुंसकम्” इति
नपुंसकस्त्वम् । “अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः द्वियाम्” इति तु न मवति, समासान्त-
स्य टचः समुदायावयवत्वेन उत्तरपदावयवत्वाभावादिति दिक् ।

प्रश्नः—स्वयम् इत्यत्र द्वितीया सम्बध्यते न वा, अस्याद्ययस्य
कान्तेन सह समासे किञ्चकलम् ? इत्येतत्सम्यक् प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“स्वयं कतेन” इत्यस्य शयमधः—क्तप्रत्यान्तप्रकृतिकपुरुषतेन

स्वयमित्यवयं समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । ननु “द्वितीयाश्रितातीत” इत्यतोऽनुवृत्तद्वितीया स्वयमित्यनेन सम्बद्धयतामिति चेद् ? न । स्वयमित्यवयस्य आत्मनेत्यर्थकस्य कर्तृशक्तिप्रधानतया तृतीयाया एवोचितत्वात् द्वितीया इत्यनेन न सम्बन्धः, अयोग्यत्वात् ।

ननु स्वयमित्यवयस्य समासे असमासेऽपि किञ्च फलम्, असमासेऽपि “अथयादाप्सुपः” इति लुकः प्रवृत्तेरिति चेद् ? न । स्वयंकृतस्यापत्यमित्यर्थे “अत इत्” इति स्वयंकृतशब्दात् पष्ठयन्तादिनि तद्वितान्तप्रातिपदिकावयवस्त्वात् सुख्छुकि “यत्येति च” इत्यकारणोपे आदिवृद्धौ ‘स्वार्थकृतिः’ इत्यस्य फलत्वात् । समासाभावे तु कृतशब्दस्यैव पष्ठयन्तत्वात् तत इति ऋकारस्यादिवृद्धौ रपत्वे ‘स्वयंकार्तिः’ इति भेदस्य सत्त्वाच्च ।

प्रश्नः—“चतुर्थी तदर्थार्थं” अत्र तदर्थपदेन किं प्राणम्, ‘मश्वघासादयः के समासाः, तत्प्रदर्शय ।

उत्तरम्—अत्र सूत्रे तदर्थपदेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्णते, अन्यथा यदि तादर्थयमात्रे अर्थ समासः स्यात्, तर्हि बलिरक्षितप्रहृण व्यर्थं स्यात् । भूतेभ्यो बलिः, गोभ्या रक्षितं तृणमित्यत्रापि बले भूतार्थतया, रक्षिततृणस्य गवार्थतया च तदर्थेत्येव समाससिद्धेत्वत् बलिरक्षितप्रहृण व्यर्थं सज्जापयति—‘अत्र सूत्रे तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्णते’ इति । तेन ‘यूपाय दारुः, कुण्डलाय हिरण्यम्’ इत्यन्न प्रकृतिविकृतिभावस्य सत्त्वात् समासः । ‘रन्धनाय स्थाली’ इत्यत्र तु प्रकृतिविकृतिभावविरहात् न समास इति फलम् । ननु तर्हि ‘अश्वाय घासः’ अश्वघास इत्यत्र कथं चतुर्थीतत्पुरुषसमासः इति चेद् ? न । अत्र ‘षष्ठी’ इत्यनेन षष्ठीतत्पुरुषसमासस्य विवक्षितत्वात् ।

प्रश्नः—प्रतिपदविधाना षष्ठी का ? अनेन वार्तिकेणैव सिद्धे ‘न निर्धारणे’ इति सूत्रं व्यर्थं नवेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—पदं पदं प्रतिविहिता प्रतिपदविधाना कारकविशेषोपादानेन विहितेत्यर्थः । “षष्ठी शेषे” इत्येतद्विहितपषष्ठयतिरिक्ता सर्वाऽपि षष्ठी प्रतिपदविधानेत्युच्यते, सा न समस्यत इति तदर्थः । ननु “न निर्धारणे” इत्यनेन निर्धारणविहितपष्ठयाः समासो निषिद्धयते, वार्तिकेनापि प्रतिपदविधानपष्ठयाः समासो निषिद्धते । पदञ्च शेषपष्ठयतिरिक्तायाः सर्वस्या अपि पष्ठयाः प्रतिपदविधानत्वाद्वा-

तिकेनैवोक्तसूत्रप्रयोजनस्य गतार्थत्वात्सूत्रं व्यर्थमिति चेद् । न । “यतश्च निर्धार-
णम्” इत्यनेन षष्ठ्या अविधानेन सप्तम्या एव विधानादनया तस्या बाधाऽभावाय
तत्प्रतिप्रसवात्तत्र सम्बन्धसामान्य एव षष्ठ्या विधानात्तस्याश्राऽप्रतिपदविधित्वा-
द्वार्तिकेनाऽगतार्थतया सूत्रस्य सार्थक्यादिति दिक् ।

प्रश्नः—“पूरणगुणसुहितार्थ” अवत्यगुणवाचकेन सर्वत्र समास-
निषेधोऽन वेति लिख ।

उच्चरम्—अवत्यगुणवाचकशब्देन षडठन्तस्य समासनिषेधोऽसार्वत्रिक इ-
त्यर्थः । अत्र प्रमाणं “तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्” इत्यादिनिदेश एव । तथाहि-
गुणेन समासनिषेधस्य नित्यत्वे तस्य अशिष्यमित्यत्र समासनिषेधेन निर्देशाऽसङ्ग-
तिरिति स एव व्यर्थ्यभूतो ज्ञापयति—‘अनित्योऽयमित्यादिना । तेन ‘अर्थगौरवम्,
‘बुद्धिमान्यम्, इत्यादि सिद्धम् ।

प्रश्नः—‘भूर्भर्ता’ ‘त्रिभुवनविधातुः, अत्र “तृजकाभ्यां कर्तरि”
इति कथं न निषेध इति प्रदर्शय ।

उच्चरम्—ननु भुवो भर्ता भूर्भर्ता, अत्रापि “तृजकाभ्यां कर्तरि” इति नि-
षेधः स्यात् । न च भर्तृ शङ्कस्य याजकादौ पाठात् भवत्येव षष्ठीसमासः । “याज-
कादिमिश्र” इत्यस्य प्रतिप्रसवार्थत्वादिति वाच्यम्, एवं तर्हि वज्रस्य भत्येत्यन्नापि
समासप्रसङ्गादिति चेद् । न । याजकादौ पत्यर्थकस्यैव भर्तृशङ्कस्य ग्रहणं व्याख्या-
नात् । एवं च ‘वज्रस्य भर्ता’ इत्यत्र “याजकादिमिश्र” इति न समास इति दिक् ।
नन्वेवं “तृजकाभ्यां कर्तरि” इति निषेधात् “त्रिभुवनविधातुः, इत्यत्र समासो न
स्यादिति चेद् । न जेष्ठष्ठ्या समासत्वेनाऽदेषात् ।

प्रश्नः—‘तक्षकस्य’ सर्पस्य, अवत्यफक्किकां सम्यगुपपादय ।

उच्चरम्—तक्षकस्य सर्पस्य अत्र तक्षकस्येति षड्यन्तस्य सर्पस्येति समा-
नाधिकरणेन सह “पूरणगुण” इति समानाधिकरणेन समासनिषेधात्तसमासो न भव-
ति । ननु षष्ठीसमासस्य निषेधेऽपि “विशेषणं विशेष्येण बहुलम्” इति विशेषण-
समासो दुवारं इति चेद् । न । तत्र बहुलग्रहणाद् विशेषणसमासाप्रवृत्तेः । गोर्धेनो-
रित्यादिषु षष्ठीसमासः प्राप्तः, सोऽप्यनेन समानाधिकरणग्रहणेन वार्यते । ननु षष्ठी-
समास एवात्र न प्रसज्यते, “पोटायुवति” इत्यादिविशेषविहितकर्मधार्येणात्र पर-
स्यापि षष्ठीसमासस्य बाधितत्वादिति चेद् । न । “पोटायुवति” इत्यादिविधया

गौर्धेनुरित्यादिषु प्रथमाविभक्त्यन्तेषु सावकाशः, षष्ठीसमासस्तु 'राज्ञः पुरुषः' इत्या-
दौ असमानाधिकरणे सावकाशः, गौर्धेनोरित्यादिषुभयं प्राप्तम् । तत्र पोटायुवती-
त्यादिविधीन् बाधित्वा प्राप्तः षष्ठीसमासः समानाधिकरणप्रहणाद् निषिद्धयते ।

**प्रश्नः—‘मध्यान्हः’ सायाह, अत्रैकदेशिसमासे किम्प्रमाणं कथञ्च
तदिति प्रदर्शय ।**

उत्तरम्—ननु “पूर्वपराधरोत्तमेकदेशिनैकाधिकरणे” इति सूत्रे पूर्वादीनामु-
पादानादेतेषामेवैकदेशानां समासः स्थादन्येषां न स्थात्तथा मध्याह्नः सायाह्नः इत्य-
दिप्रयोगो नैवोपपष्टेतेति चेद् ? न । “संख्याविसाय” इति ज्ञापनात् । तथाहि—
एकदेशिसमासमन्तरा सायपूर्वकाह्नशब्दस्थालाभात् प्रकृतसूत्रेण ही परे अहनादेश-
विधानं व्यर्थं स्थात्, तदेव व्यर्थं सज्ज्ञापयति ‘सर्वोऽप्येकदेशोऽन्हा समस्यते’ इति ।
तेन ज्ञापकेन ‘मध्यान्हः’ ‘सायाह्नः’ इत्यत्र एकदेशिसमासस्थासिद्धिः ।

नन्वेवं तर्हि ‘मध्यरात्रः’, ‘पश्चिमरात्रगोचराः’ इत्यत्र केन समासः इति चेद् ?
प्रकृतज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वेन अत्रापि समाससिद्धिः । तदुक्तम्—‘केविचु सर्वो-
ऽप्येकदेशः कालेन समस्यते न त्वन्हैव, ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वात् । तेन ‘मध्य-
रात्रः’ ‘उपारताः पश्चिमरात्रगोचरा’ इत्यादिसिद्धमित्याहुः’ इति ।

**प्रश्नः—‘प्राप्तजीविका’ अत्र केन समासः, कथञ्च तस्य सिद्धिरि-
ति प्रदर्शय ।**

उत्तरम्—जीविकां प्राप्ता या ष्ठी सा प्राप्तजीविका अत्र “प्राप्तापन्ने च द्वितीयया” इति सूत्रेण समासे प्राप्तापदत्य दीर्घाकारस्य हस्ताकारे च कृते प्रयोगः
सिद्धयति । अन्यथा कर्मधारयसमासाभावेन “पुंवत्कर्मधारय” इति सूत्राप्रवृत्या
प्राप्तपदे हस्ताकारो दुर्लभ इति “प्राप्तापन्ने च द्वितीयया” अत्र अकारः प्रश्लेष्ट-
यः, स च प्राप्ता आपन्ना अनयोरन्ते विषेय इति दिक् ।

**प्रश्नः—‘युवत्तलती, युवजरती, अत्र सामानाधिकरण्याभावात्कथं
समासः’ इति लिख ।**

उत्तरम्—ननु सूत्रे उँलिङ्गयुवनशब्दस्थैर्योपादानात् खलतीजरतीशब्दाभ्यां
सामानाधिकरण्याभावेन समासाप्राप्त्या ‘युवत्तलती’ ‘युवजरती’ इत्यादि न स्था-
दिति चेद् ? न । “प्रातिपदिकप्रहणे लिङ्गविशिष्टत्यापि ग्रहणम्” इति परिभाषया
युवतिशब्दस्थापि समासविधानात् । तथाहि—प्रातिपदिकस्य प्रहणे लिङ्गोचकप्र-

त्ययविशिष्टस्य अपिशब्दात्केवलस्याऽपि ग्रहणम्बोद्धयम् । एवज्ञोक्तपरिभाषया सूक्ष्मो-
पात्तशुभ्रच्छब्देन युवतिशब्दस्याऽपि ग्रहणात्तस्यात्र खलत्यादिसमानाधिकरणत्वा-
दुक्प्रयोगोपपत्तौ न किमपि बाधकमिति दिक् ।

प्रश्नः—लिङ्गविशिष्टपरिभाषायां किम्प्रमाणं कथञ्च तदिति लिख ।

उत्तरम्—ननु सूत्रे कुमारशब्दस्य पाठात्तस्य श्रमणादिभिः स्त्रीलिङ्गविशिष्टैः
सह सामानाधिकरण्याऽभावात्कुमारी श्रमणा कुमारश्चमणेति प्रयोगो च स्थादिति
चेद् । न । “प्रातिपदिकप्रहणे लिङ्गविशिष्टस्याऽपि ग्रहणम्” इति परिभाषया कुमा-
रशब्देन कुमारीशब्दस्य ग्रहणात्तस्य च श्रमणादिशब्देन समानाधिकरणत्वात्समासे
ब्रह्मप्रयोगस्योपपत्तेः ।

श्रमणादिगणे श्रमणा—प्रबजिता, हृत्यादिस्त्रीलिङ्गाः पठन्ते, लेषाच्च कुमार
इति पुंसिलङ्घेन सह सामानाधिकरण्यविरहात् समासविधानं व्यर्थं सज्जापयति—
“प्रातिपदिकप्रहणे” इति । फलञ्च—‘युवतिलती’ हृत्यादि ।

प्रश्नः—“गतिकारकोपपदानां कृद्धिः सह समासवचनं प्राक्सुबु-
त्पत्तेः” इति परिभाषायां किम्प्रमाणम्, अस्याः फलञ्च किमित्येत-
त्सम्यगुपपादय ।

उत्तरम्—“उपपदमतिङ्” इति सूत्रे “छबामन्निते पराङ्गवत्स्वरे” इति सूत्रा-
त्सुविति प्रथमान्तं पदं “सह सुपा” इति सूत्रात् सुपेति तृतीयान्तच्च पदमनुवर्तते ।
एवच्च उपपदं सुबन्तं सुबन्तेन सह समाससंज्ञको भवतीत्ययें तिङ्नेन सह समासे
निषिद्धे ऽतिङ्ग्रहणं व्यर्थं सद् ‘सुपा’ इति तृतीयान्तं पदं नानुवर्तते इति ज्ञापयति ।

एवमेव “कुरुतिप्रादयः” इति सूत्रे गतिग्रहणं पृथक्कृत्य तत्रातिङ्ग्रहणस्या-
पकर्षेन गतिसंज्ञकोऽतिङ्नेन सह समाससंज्ञको भवतीत्ययेन तत्रापि सुपेति तृती-
यान्तपदस्य नानुवृत्तिः ।

हृष्टथञ्च “गतिकारकोपपदानां कृद्धिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः” इति प-
रिभाषा सिद्धा । फलाति च अस्याः—व्याघ्री, अश्वकीती, कच्छपी इति । तथाहि-
व्याजिन्नतीति व्याघ्री “आतश्चोपसगें” इति कः, आळो ग्रशब्देन गतिसमासः । स
यदि ग्रशब्दस्य सुबन्ततामपेक्षेत, तर्हि सुबुत्पत्तये संख्याद्यपेक्ष्य ततः प्रागेव लिङ्ग-
योग इति लिङ्गनिमित्तेन टापा भाव्यम्, न तु डीषा । ग्रमात्रस्य जातीत्वाभावा-
त् । एवच्च परिभाषाऽस्त्रीकारे ‘व्याघ्रा’ स्यात् । अव्यवेन क्रीता अत्र “कर्तुकरणे

कृता बहुलम्” इति समाप्ते “क्रोतात्करणपूर्वात्” इति भीषि ‘अइवक्रीती’ इति भवति । सुबन्नेन समाप्ते तु टाप स्यात् । एवं कच्छेन पिबतीति ‘कच्छपी’ अत्र “सुपि” इति योगविभागात्के, उपपदसमाप्ते जातिस्वान्धीषि च तत्सिद्धिः । सुबन्नेन सह समाप्ते तु उक्तं रूपं न स्यादिति संक्षेपः ।

प्रश्नः—‘दोर्वान्हो प्रावृट्’ अत्र णत्वं कुतो नेति घद ।

उत्तरम्—दीर्घाणि अहानि यस्यामिति बहुवीहौ समाप्ते “ऋन्नेभ्यो छीप्” इति भीषि असंज्ञायाम् “अल्लोपोऽमः” इत्यलोपे ‘दोर्वान्हो’ इति भूते, अत्र यथापि “अन्होऽदन्तात्” इत्यदन्तानुकरणान्हशब्दस्यैवानेन णत्वविधानात् प्राप्तिनांस्ति, तथापि “प्रातिपदिकान्तनुभिर्भक्तिषु च” इत्यनेन णत्वप्राप्तिर्वर्तते तदर्थं “क्षुभ्नादिषु च” इत्यत्रादन्तानुकरणं न स्यात्, तथापि ‘दोर्वान्हो’ इत्यत्र “क्षुभ्नादिषु च” इति णत्वनिषेधः स्यादिति ।

प्रश्नः—“आन्महृतः” इत्यत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा प्रवर्तते न वा ।

उत्तरम्—तथाहि—महतः सेवा ‘महत्सेवा’ इत्यादि षष्ठीसमाप्तस्य लाक्षणिकत्वम् । “सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः” इति सूत्रविहितसमाप्तस्तु प्रतिपदोक्तः । ततश्च ‘लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्’ इतिपरिभाषया ‘महावैयाकरणः’ इत्यत्रात्वं स्यात्, महतः सेवा ‘महत्सेवा’ इत्यत्र चात्वं न स्यात्, इति समानाधिकरणं प्रकृतसूत्रे व्यर्थमेव स्यात् । तदेव व्यर्थं सज्जापयति—“आन्महृतः” इत्यत्र ‘लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्’ इति परिभाषा न प्रवर्तते इति, तेन ‘महाबाहूः’ इत्यत्र ‘महान्तो बाहू’ यस्येति विश्रेद्द “अनेकमन्यपदार्थेण” इति बहुवीहितसमाप्ते “आन्महृतः समानाधिकरणजातीययोः” इति आत्मे ‘महाबाहूः’ इति रूपम् । “आन्महृतः समानाधिकरणजातीययोः” इत्यत्र समानाधिकरणस्यदमेव प्रयोजनम् ।

प्रश्नः—‘अष्टागाधम्’ इत्यत्र युक्तार्थस्य कर्थं लाभः ? तस्य साधनश्च कुरु ।

उत्तरम्—अष्टौ गावौ यस्मिन् इति बहुवीहितसमाप्ते “अच् प्रस्यववसर्गात्” इत्यत्र ‘अच्’ इति योगविभागात् अविः “गवि च युक्ते” इति अष्टन आत्मे ‘अष्टागवम्’ इति रूपं सिद्धम्, युक्तार्थस्यापि बहुवीहिता लाभः ।

यद्यपि तत्पुरुषे युक्तार्थो न लभ्यते, तथापि तत्र ‘अष्टानां गवां समाहारः’ “त-
दितार्थोत्तरपदसमाहारे च” इति समाहारे तत्पुरुषसमासे “गोरतदितलुक्तिं” इति
टचि, ‘कष्टगवम्’ इति भूते, ततोऽष्टगवमस्यास्तीति “अर्षादिग्म्योऽद्” इति
अच्चप्रत्ययेन युक्तार्थो गम्यते, तेन च “गवि च युक्ते” इति आत्वे ‘अष्टगवम्’ इति
सिद्ध्यतीति दिक् ।

इति तत्पुरुषसमासः ।

अथ बहुवीहिसमासः ।

प्रश्नः—“चित्राजरद्गुः” इत्यन्तं पुंवद्ग्रावः कस्य भवति,
तत्प्रदर्शय ।

उत्तरम्—चित्रा जरती गौर्यस्येति त्रिपदे बहुवीहौ “चित्राः पुंवद्” इति
विहितः पुंवद्ग्रावचित्राशब्दे न प्रवर्तते, सूत्रस्यास्योत्तरपदप्रकरणस्थत्वाच्चित्राश-
ब्दस्य च मध्यमेन जरतीशब्देन व्यवधानात् उत्तरपदप्रकरणाभावात् । मध्यमे जर-
तीशब्दे तु प्रवर्तते पव उत्तरपदप्रत्यवात् । न चात्र उत्तरपदशब्देन पूर्वपदस्याक्षेपात्
जरतीशब्दस्य च पूर्वपदत्वाभावात् कथमिह पुंवत्वमिति वाच्यम् । “आनङ् ऋतो
द्वन्द्वे” इति सूत्र इव प्रकृतसूत्रेऽपि “स्त्रियाः पुंवद्” इत्यन्तं पूर्वपदस्याक्षेपात् ।
“आनङ् ऋत” इत्यन्तं पूर्वपदस्याक्षेपे हि ‘होतपोतनेष्टोद्गतातारः’ इत्युपा-
न्तस्य नेष्टुरुदाहृत आनङ् भाष्यकारेण सङ्घच्छत इति दिक् ।

प्रश्नः—‘पुंवद्ग्रावप्रतिषेधोऽप्प्रत्ययश्च प्रधानपूरण्यामेव अस्याशयं
सोदाहरणं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणामिति विग्रहे उद्भूतावयवभेद-
विवक्षया पञ्चमीशब्दः प्रधानपूरणप्रत्ययान्तर्वचेति “पूरणी प्रियादिषु” इति पुंव-
द्ग्रावप्रतिषेधे जाते “अप्पूरणीप्रमाणयोः” इत्यपि ईकारलोपे च कृते प्रयोगः सिद्धय-
ति । कल्याणपञ्चमीकः पक्षः अत्र तु तिरोहितावयवभेदविवक्षया पञ्चमीपदार्थः
प्रधानं न भवतीति पुम्बद्ग्रावप्रतिषेधो ऽप्प्रत्ययश्च न भवति । ‘उद्भूतावयवभेद-
विवक्षयां समासघटकतया यावन्ति पदानि सन्ति, तेषां सर्वेषामर्थः प्रधानं भवति
तिरोहितावयवभेदनिवक्षयान्तु समासघटकपदानामर्थः प्रधानं न भवति, किन्तु
अन्यपदार्थं पव प्रधानं भवतीति दिक् ।

प्रइनः—सपत्नीशब्दः कतिविधः, तत्र पुंवद्ग्रावे सति कानि रु-
पाणि भवन्ति, तत्प्रदर्शय ।

उत्तरम्—सपत्न्या अपत्यमित्यर्थं शश्रुपर्यायं विवाहनिवन्धनश्च पतिशब्द-
माश्रित्य प्रवृत्ताभ्यां सपत्नीशब्दाभ्यां “तस्यापत्यम्” इत्यर्थं बाधित्वा “ल्लो
भ्यो ठक्” इति ठकि प्राप्ते “शिवादिभ्योऽण्” इत्यणि आचार्य सपत्नोशब्ददस्य
भाषितपुंस्कतया पुंवत्वे छीपो निवृत्तौ सापत्नं इति रूपम् । नकारस्य तु न नि-
वृत्तिः, शश्रुपर्यायसपत्नशब्ददस्य अव्युत्पन्नप्रातिपदिकतया तत्र नकारस्य छील्वनि-
मित्तकत्वाभावात् । द्वितीयस्य तु सपत्नीशब्ददस्य छील्वन्त्वाभ्यामुत्पन्नस्य शिवा-
र्थणि कृते भाषितपुंस्कत्वाभावात् न पुंवत्वम् ; किन्तु छीपो “यस्येति च” इति
लोपे “सापत्नः” इति रूपम् ।

सापत्नः—सपत्न्या अपत्यमित्यर्थं स्वामिपर्यायं पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तात्
सपत्नीशब्दात् “तस्यापत्यम्” इत्यर्थं बाधित्वा “दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदा-
ष्टः” इति एवप्रत्यये अस्य सपत्नीशब्ददस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवत्वे सति छील्व-
त्वयोर्निवृत्तौ “यस्येति च” इतीकारलोपे “सापत्नः” इति रूपम् । नचात्र “शि-
वाचण्” इति कथं नेति वाच्यम् । शिवादौ रुद्धयोरेव ग्रहणात् । शश्रुपर्यायं पति-
शब्दमाश्रित्य प्रवृत्तसपत्नशब्दो रुद्धः । विवाहनिवन्धनं पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्त-
स्तु योगरुद्धः । स्वामिपर्यायं पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तस्तु केवलयौगिकः ॥

प्रश्नः—“ओर्गुणः” इत्यत्र “ओरोत्” इति न्यासो युवक्तो नवेति
प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु गुणः उकारस्थाने भवन् स्थानसाम्यादोकार इव भवति ।
ततश्च लाभवात् “ओरोत्” इत्येव सिद्धे गुण इति गुरुनिदेशो व्यर्थं इति चेद् , न ।
“संज्ञापूर्वको विभिरनित्यः” इति परिभाषायाः ज्ञापकत्वेन साक्षस्यात् । नचैवम-
पीह तद्विद्वित्संज्ञापूर्वकत्वं दुर्वारमिति वाच्यम् । विधेयसमर्पकं पदं यत्र संज्ञारूपं स
एव संज्ञापूर्वकविभिरित्यभ्युपगमात् । न च ‘ओत्’ इति “तपरस्तकालस्य” सं
ज्ञेति वाच्यम् । विधेयमानत्वादेव तत्कालत्वसिद्ध्या तकारस्य उच्चारणार्थत्वात् ।
स्वयम्भुवोऽपत्यमित्यर्थं अणि स्यायंभुवः, संज्ञापूर्वकत्वेनानित्यत्वादोरुणाभावे उवल-
भादिवृद्धिरिति दिक् ।

प्रश्नः—कथं तर्हि ‘विनसा हतवान्धवा’ इति भट्टिः, इमाँ शङ्काँ
निराकुरुत ।

उत्तरम्—ननु विगता नासिका यस्येति विग्रहे अथ नसादेशे रापि च विनसेति भष्टप्रयोगे न युज्यते । प्रादेशस्यात्य नसादेशः प्रस्थपवादत्वादिति चेद् । उच्यते—विगता नासिका, इति प्रादेशमासः । अबहुव्रीहित्वात् न प्रादेशः, किन्तु यायां “पहव्र” इति नसादेशे विनसेति तृतीयान्तं स्पृम् । अत्र उपलक्षिता इत्यध्याहार्यम् ।

इति बहुव्रीहिसमासः ।

अथ सर्वसमासशेषः ।

प्रश्नः—“सुपां सुपा तिङा नाम्ना” इत्यादिकारिका सोदाहरणं व्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—सुपां सुपेत्यादि—सुबन्तानां सुबन्तेन, सुबन्तानां तिङा, सुबन्तानां प्रतिपदिकेन सुबन्तानां धातुना च, तिङ्न्तानां तिङ्न्तेन, तिङ्न्तानां सुबन्तेन च समासः, इत्येवं लुधैः वद्विधः समासो ज्ञेयः इति कारिकार्थः । अथोदाहरणानि क्रमेण राजपुरुषः । अत्र राज्ञः इति षष्ठ्यन्तस्य सुबन्तेन सह समासः । पर्यमूर्खयत्—अत्र परीति सुबन्तस्य अभूषयत् इति तिङ्न्तेन सह “सह सुपा” इत्यत्र सहेति योगविभागात्समासः । कुम्भकारः—अत्र “उपपदमतिङ्” इति सूत्रेण कुम्भस्येति षष्ठ्यन्तस्य कारेति प्रातिपदिकेन समासः । कटप्रूः—“किञ्चवचिप्रच्छया यतस्तुकटप्रज्ञेण; दीर्घोऽसम्प्रसारणम्” इति वार्तिकेन कडस्य ‘प्रु’ धातुना समासो निपातितः । पिष्ठतखादत्—अत्र मयूरव्यंसकादित्वात् तिङ्न्तस्य तिङ्न्तेन सह समासः । कुन्तविचक्षणा—कुन्तविचक्षण यस्यां क्रियायां सा कृन्तविचक्षणा, अत्र कृन्तेति तिङ्न्तस्य विचक्षण इति सुबन्तेन सह “पहीढादयोऽन्यपदार्थे” इति मयूरव्यंसकादौ पाठात् समासः इत्यलम् ।

इति सर्वसमासशेषः ।

अथ समासाश्रयः ।

प्रश्नः—“हुल्लेखः” इति संसाध्य “ उत्तरपदाधिकारे” इयं परिभाषा कथं ज्ञापितेति लिख ।

उत्तरम्—हुदयस्य लेखः “हुल्लेखः” अत्र “षष्ठी” इत्यनेन षष्ठीतत्पुरुषस्त-

मासे, “हृदयस्य हृष्णेखयदणलासेषु” इति हृदादेशे च तत्सिद्धिः । अत्र सूत्रे अन् प्रत्ययेन “प्रत्ययग्रहणे यहमात्स विहितः” इत्यादिपरिभाषया प्रत्ययान्ततदा-दीत्यंशोपस्थितौ केवलप्रत्ययस्थले व्यपदेशिवद्वावेन अन्प्रत्ययान्ततदादित्वं, लेखशब्दे चाणप्रत्ययान्तत्वं वर्तत पवेति स्थलद्वयेऽपि हृदादेशे सिद्धे लेखपद्धार्ण व्यर्थं सत् “उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” इति परिभाषां ज्ञापयति । लेखेतिपदं घञन्तलेखशब्दबोधनार्थमिति न शङ्कयम् । “सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्” इति परिभाषया अप्रत्ययसाहचरितंगान्तलेखस्यैव ग्रहणात् ।

प्रइनः—‘परमकारीषगन्धीपुत्रः’ इदं सशास्त्रं शङ्कानिरासपूर्वकं द्याख्येयम् ।

उत्तरम्—ननु करीषग्य गन्ध इव गन्धो यस्येति विग्रहे “ससम्युपमानपूर्वं पदस्य बहुवीहिवाच्यो वा चोत्तरपदलोपः” इति समासे पूर्वस्थाने उत्तरस्य गन्धशब्दस्य लोपे च “धृपमानाच्च” इतीत्वे करीषगन्धः, तस्यापत्यं स्त्री इत्यथं “तस्या-पत्यम्” इत्यग्नि “अणिजोरमार्षयोः” इति तस्य व्यङ्गादेशे “यस्येति च” इतीकारणोपे आदिवृद्धौ “यडश्राप्” इति चापि, कारीषगन्धया, परमा च सा कारीषगन्धया च परमकारीषगन्धया, तस्याः पुत्र इति षष्ठीसमासे सुक्लुकि परमकारीषगन्धया पुत्र इति स्थिते “व्यङ्गः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे” इति व्यङ्गः सम्प्रसारणे “सम्प्रसारणस्य” इत्यनेन तस्य दोषे ‘परमकारीषगन्धीपुत्रः’ इति भवति ।

ननु अत्र सम्प्रसारणं दुर्लभम्, व्यङ्गः करीषगन्धिशब्दादेव विहितवेन परमकारीषगन्धयाशब्दस्य पूर्वपदस्य व्यङ्गस्तत्वाभावात्प्रत्ययग्रहणे यहमात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणादिति चेद् ? न । “स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न” इति परिभाषया तदादिनियमाभावात् परमकारीषगन्धयाशब्दोऽपि व्यङ्ग न्त पवेति तात्पर्यात् । कारीषगन्धयामतिक्रान्तः, अतिकारीषगन्धयः, “अत्यादयः” इति समासे उपसर्जनहृत्वः । तस्य पुत्रः अतिकारीषगन्धयपुत्रः । अत्र “स्त्रीप्रत्यये तदादिनियमोन” इति निषेधो न भवति, अनुपसर्जन एव स्त्रीप्रत्यये तस्य निषेधस्य प्रवृत्तेः । व्यङ्ग त्वयं स्त्रीप्रत्ययोऽत्र उपसर्जन एव । अतस्तत्र तदादिनियमस्त्वात् अतिकारीषगन्धयशब्दो नैव व्यङ्गन्त इति न सम्प्रसारणमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘गर्गभगिनी’ अत्र णत्वं कुतो नेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—ननु ‘गर्गाणां भगिनी’ ‘गर्गभगिनी’ हृत्यन्न छोपप्रत्ययप्रकृति-भूतभगिनूशब्दात्मकप्रातिपदिकान्तत्वात् नकारस्य “प्रातिपदिकान्तनुम्बिभक्तिषु च” हृति णत्वविकल्पः कथनेति प्रष्टुराशयः । उत्तरयितुस्त्वयमाशयः—प्रकृतस्त्रे पूर्वपदेन उत्तरपदमाक्षिप्यते, तच्च प्रातिपदिकस्थैव विशेषणम्, न तु तदन्तस्य, नापि नुम्बिभक्तेः । प्रकृतोदाहरणे च भगिनीशब्दं उत्तरपदं न तु तत्प्रातिपदिकम्, प्रत्ययान्तत्वात् लिङ्गविशिष्टपरिभाषया प्रातिपदिकप्रहणेन भगिनीशब्दस्य ग्रहणेऽपि तदन्तमीकार एव न तु नकारः, अतो नात्र पाक्षिकं णत्वमिति । अत्र च तुम् ग्रहणमेव ज्ञापकम् ।

प्रश्नः—‘माषकुम्भवापेन’ चतुरङ्गयोगेन, अत्र णत्वं कर्थं वासितं तत्प्रदर्शय ।

उत्तरम्—माषाणां कुम्भो माषकुम्भः, तस्य वापः हृति षष्ठसीमासः । अत्र निमित्तकार्यिणोः षाकारनकारयोः कुम्भपदेन व्यवधानान्न णत्वम् । चतुरङ्गयो-गेनेति । चत्वारि अङ्गानि रथगजतुरगणदातिरूपाणि यस्य तत् चतुरङ्गं सैन्यम्, तेन योगः हृति विग्रहः । अत्र निमित्तकार्यिणोरङ्गपदेन व्यवधानान्न णत्वम् । उभयन्नार्थे कुम्भशब्दस्य अङ्गशब्दस्य च प्रत्ययलक्षणेन अन्तर्वर्तिर्णो विभक्तिमाश्रित्य पदत्वं वर्तते । “उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः” हृति निषेधस्तु नात्र प्रवर्तते, उत्तरस्पष्टस्य कार्यभाक्त्वे सत्येव तत्प्रवृत्तेः । अत एव “न लुमताङ्गस्य” हृत्यन्न परमावाचेत्येव तस्याः परिभाषाया उदाहरणमुक्तम्भाष्ये । अत्र हि वाक्छब्दस्य उत्तरपदस्य कुत्वरूपकार्थभाक्त्वमस्तीति तस्य अन्तर्वर्तिर्णो विभक्तिमाश्रित्य पदत्वाभावात् कुत्वं न भवति । अत एव च “कुमति च” हृति सूत्रे भाष्ये माषाणां कुम्भः माषकुम्भः, माषकुम्भस्य वापो माषकुम्भवापः तेन माषकुम्भवापेनेत्यन्न “पदद्यवायेऽपि” हृति निषेधप्रवृत्तये “प्रातिपदिकान्त” हृति णत्वप्रवृत्तिरूपन्यस्ता सङ्घच्छते । नचैवं सति रस्यविणा हृत्यन्न वि हृत्युत्तरस्पष्टस्य कार्यभाक्त्वाभावात् “उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ” हृति प्रत्ययलक्षणनिषेधस्याप्रवृत्तौ अन्तर्वर्त्तिविभक्त्याश्येन पदत्वात् “पदद्यवायेऽपि” हृति णत्वनिषेधः स्यादिति वाच्यम्, पदे परे यत्पदं तेन व्यवाये णत्वं नेत्यर्थस्यैव भाष्यसम्मतत्वादिति दिक् ।

हृति समाप्तश्रवयिः ।

अथ तद्वितेष्वपत्यांधेकारः ।

प्रश्नः—“आदिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धी बाधते” अस्या भाशयं प्रकटय ।

उत्तरम्—एकलक्ष्ये एककालावच्छेदेन कार्यद्वयस्यासम्भवरूपं विप्रतिषेषसूत्र-प्रवृत्तौ निमित्तं, तच्चान्न नास्ति, यतः एकलक्ष्ये आदिवृद्धी अन्त्यवृद्धी च सत्यां नहि कश्चिद् विरोधः । एवज्ञ एकत्र लक्ष्ये आदिवृद्धी उपधावृद्धी च सत्यां नास्ति विरोधं हति विप्रतिषेषसूत्राप्रवृत्तौ परत्वमूलकबाधो न सम्भवति । पूर्वमादिवृद्धी सत्यामन्त्योपधावृद्ध्योः सत्योः आदिवृद्धेश्च प्रसङ्गं हति नित्यत्वप्रयुक्तोऽपि बाधो न भवति । अथ च सर्ववृद्धिनां प्रकृतिप्रत्ययोभयसापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वमूलकबाधासम्भवः । अन्यत्र वृद्धित्रयस्य साफलयेनापवादमूलकबाधासम्भवश्चेति किमूलिका-दिवृद्धिर्बांधिकेति सम्भेदे अनुशासिकादिगणे पुष्करसञ्जब्दस्य पाठो बाधकत्वे मूलम् । अन्यथा “तद्वितेष्वामादेः” हति सूत्रेणादिवृद्धी “अत उपधायाः” हत्य-नेनोपधावृद्धी च सत्यां पौष्टकरसादिशब्दस्य सिद्धौ तद्रणे पुष्करसञ्जब्दस्य पाठ उपयपदवृद्धयर्थो निष्कल एव स्थादिति ।

प्रश्नः—‘तस्येदमित्यपत्येऽपि बाधनार्थं कृतं भवेत् । उत्सर्गः शेष एवासौ वृद्धधान्यस्य प्रयोजनम्’ इति कारिका द्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—इदमयेऽपत्यसमूहविकारादीनामन्तभावादपत्येऽपि “तस्येदम्” हत्यणं प्रवर्तते हति किमनेन “तस्यापत्यम्” हति सूत्रेण । यद्यपि “अत इम्” हत्यार्थं “तस्यापत्यम्” हति वक्तव्यम्, तथापि योगविभागः किमर्थं हत्याक्षेप्तु-राशयः, समाधत्ते—“तस्येदम्” हत्यस्य यद्वाधकं “वृद्धाच्छः” हति, तद्वाधनार्थं पूर्यक् सूत्रं कृतं भवेदित्यर्थः । ननु “तस्येदम्” हत्यणस्तदपवादस्य वृद्धाच्छब्दस्य च शैषिकत्वादपत्यार्थं प्रसक्तिरेव नास्ति, अपत्यादिचतुर्थर्थयन्तेभ्यो योडन्योऽर्थः स शेष हत्यभ्युपगमात् अत आह—‘उत्सर्गः शेष एवासौ, असौ—अपत्यार्थः । असति योगविभागे अदन्तवाहादिप्रकृतिसम्बद्धस्यैवापत्यार्थस्योपयोगादुपगवादिप्रकृतिसम्बद्धोऽपत्यार्थः शेष एव स्थात् । तथा च अणं बाधित्वा भान्वादिभ्यो ‘वृद्धाच्छः’ प्रसज्येत । कृते तु योगविभागे प्रकृतिसामान्यसम्बद्धस्यापत्यार्थस्योपयोगाच्छेष-त्वाभावेन छस्य प्राप्तिरेव नास्ति । एवज्ञ अप्राप्तिसम्पादनद्वारा छापाधकत्वम् “तस्यापत्यम्” हति पृथक्सूत्रस्य सिद्धम् । ननु उपधावृद्धत्वेन छस्य प्रवृत्यभावा-

निष्फले योगविभागः स्थादत आह—वृद्धानीति—भान्वादिग्रातिपदिकानि
वृद्धानि; अस्य प्रयोजनमित्यलम् ।

प्रश्नः—कृतसन्धेः किम्? सौतिथितिः, “अकृतव्यूहपरिभाषया
साबुत्थितिर्माभूत्” इति फक्षिककां प्रतिपादय ।

उत्तरम्—सौतिथितिरित्यत्र सु—शोभनः, उत्थितः सूतिथितः । प्रादिसमासे
सवर्णदीर्घः । सूतिथितस्यापत्यं सौतिथितः । अत इज्, सुब्लुक्, आदिवृद्धिः
“यस्येति च” इत्यकारणोपः । “तत्यापत्यम्” इति सूत्रे कृतसन्धेरित्यस्याभावे सु
उत्थित इत्यस्यामेव दशायां सवर्णदीर्घर्थत्वात्परत्वादिवृद्धौ कृतायामावादेशे साबु-
त्थितिरिति स्यात् । नन्वत्रान्तरङ्गत्वात्सवर्णदीर्घे कृते तदुत्तरमेव इत्यप्रत्यय उचितः
परादन्तरङ्गस्य बलवत्वात् । ततश्च सन्धेः प्राक् तद्वितोत्पत्तेऽप्रसक्तेः कृतसन्धेरिति
व्यर्थमेवेति चेद्, न । “अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः” इति परिभाषया सन्धेरभावप्र-
सङ्गात् । तथाहि—अन्तरङ्गपरिभाषाया अण्यपवादभूतया अकृतव्यूहपरिभाषया
सन्धेः प्रागेव प्रत्ययः स्यात् । ततश्चादिवृद्धयपेक्षयाऽन्तरङ्गोऽपि सवर्णदीर्घः अकृत-
व्यूहपरिभाषया आदिवृद्धेः प्राग् न प्रवर्तते । एवज्ञ सवर्णदीर्घर्थत्प्रागेवादिवृद्धौ आ-
वादेशे साबुत्थितिरिति स्यादित्यर्थः ।

प्रश्नः—गोत्रे स्वैकोनेति कारिका यथायथमुपपादनीया ।

उत्तरम्—ननु “एको गोत्रे” इति सूत्रं व्यर्थम्, नच तत्रानेकप्रत्ययव्यावृ-
त्यर्थमावश्यकं तदिति वाच्यम् । युगपदेकस्मिन्गोत्रेऽनेकप्रत्ययानामप्रसक्तेरित्या-
शङ्क्य सूत्रारम्भफलं दर्शयति—गोत्रे स्वैकोनेत्यादि । स्वं गोत्रं तदपेक्षया एको-
नसंख्यानां प्रत्ययानां तृतीये द्वयोः, चतुर्थं त्रयाणां, पञ्चमे चतुर्णां प्रत्ययानां परम्परा
प्रसज्जयेत इति तदर्थः । तथाहि—उपगुशब्दात्तृतीये वाच्ये द्वयोरणिजोः प्रत्यययोश-
पत्तिः । उक्तशब्दादेव चतुर्णांमणिङ्कगिरां प्रत्ययानां परम्परेति । न च “यस्येति च”
इति सूत्रेणाणोऽलोपेनाविद्यमानत्वादणिषादीनामप्रत्ययानां परम्परेत्युक्तेः कर्त्त
सङ्गतिरिति वाच्यम् । अणन्तादिज उत्पत्तिः, इजन्तात् फक् इत्यभिप्रायेण प्रत्य-
यपरम्परेत्युक्तेः सङ्गतेः ।

यद्वा स्वं गौत्रं तदपेक्षया दृच्यूषसंख्येभ्यः प्रकृतिभूतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽग्निष्ठ-
प्रत्ययोत्पत्तिरित्यर्थः । उपगोस्तुतीये वाच्ये एकत्वमान्तैरपगवादिगिरिष्ठः प्राप्नोति, चतु-

ये वाच्ये द्वार्घ्या, पञ्चमे त्रिभ्य, इत्यादि । अन्नानिष्टोत्पत्तिमात्रं नत्विष्टसिद्धिरित्यर्थः । अत्र पक्षे उपगुशब्दादणेष्टसिद्धावपि औपगवादिनिवृत्यर्थं नियमार्थं सूत्रम् । गोत्रे वाच्ये एक एव शब्दः प्रत्ययप्रकृतिर्नवेनेकशब्दः इत्यर्थः । यद्वा एकः शब्दः प्रथमवाची, प्रथमः शब्दो गोत्रे प्रत्ययसुत्पादयतीत्यर्थः । प्रथमत्वज्ञ सर्वमूलकत्वमिति स्पष्टं भाष्ये । अपत्यं पितुरेवेति । मुख्यपक्षमाह—ततः प्राचामपीत्यादि । पित्रपेक्षया प्राचां पितामहादीनामपीत्यर्थः । न पतन्त्यनेनेत्वपत्यमिति व्युत्पत्तेः । यत्य यन्निमित्तमपतनं तत्य तदपत्यमिति फलितम् । पितामहादीनामपतने पौत्रादेरपि हेतुत्वेन तेषामपत्यमभवति । मतभेदेनेति । प्रथमपक्षे प्रत्ययमालानिवृत्तये, द्वितीये स्वदृश्यूनसंख्येभ्योऽनिष्टोत्पत्तिनिवृत्तये इत्यर्थः । सूत्रमेतत्थोत्तरमिति स्पष्टम् ॥

प्रश्नः—“क्षत्रियसमानशब्दात्” इति वार्तिकं व्याचक्षस्व ।

उत्तरम्—तेषां राजा तद्राजस्तद्राजमाचष्टेतद्राजयति, तद्राजयतीति तद्राजस्तत्तद्रूदेशस्य राजो वाचकः इत्यन्वर्थतद्राज इति संज्ञासामर्थ्येन यो हि शब्दो देशस्य वाचकः क्षत्रियरूपार्थस्य च वाचकस्तस्मात् शब्दात्, तस्य नाम पञ्चान्तात् समर्थात् अपत्येऽर्थे यथा प्रत्यया भवन्ति, तथा राजन्यपृथ्ये प्रत्ययाः स्युः । एवज्ञ पञ्चालानां राजा; पञ्चालस्यापत्यं वेत्यर्थद्वयेऽपि पाञ्चाल इति रूपं सिद्ध्यति ।

इति सदितेष्वपत्याधिकारः ।

अथ चातुरार्थिकम् ।

प्रश्नः—“वामदेवाडूडयडूडयौ” इति सूत्रे डित्करणस्य प्रयोजनं निरूप्यताम् ।

उत्तरम्—“वामदेवाडूडयडूडयौ” इति सूत्रेण यत्तोः प्रत्यययोः कृतयोः सतोः “यस्येति च” इति सूत्रेण अकारलोपे कृते ‘वामदेवयम्’ इति प्रयोगे सिद्धे प्रत्ययद्वये डकारोपादानं “निरनुबन्धकप्रहणे न सानुबन्धकस्य” इति, “एकानुबन्धकप्रहणे न द्वयनुबन्धकस्य” इति च परिभाषाद्वयं ज्ञापयति । “पूरणगुणसुहितार्थसदृश्यतत्यसमानाधिकरणेन” इत्यत्र तत्यप्रहणेन तत्यतो ग्रहणं नेति “निरनुबन्धक” इति परिभाषायाः फलम् । “एकानुबन्धकप्रहणे” इत्यस्याः परिभाषायाः फलन्तु अडा चहो ग्रहणं नेति । इत्यज्ञ ‘यत्तोश्चातदयौ’ इति सूत्रे यदिति-

प्रत्ययद्वयेन डयत्वयेति प्रत्ययद्वयस्य ग्रहणाभावेन अवामदेव्यमिति प्रयोगे उदात्त-
स्वराभावः सिद्धयतीति फलमिति दिक् । तथाहि—‘सिद्धे यस्येति लोपेन किमर्थं
यतौ दितौ । ग्रहणं मा तदर्थं भूद् वामदेव्यस्य नन्दवरे’ ॥ इति ।

इति चातुरर्थिकम् ।

अथ शेषाधिकारः ।

प्रश्नः—“शेषः” इति सूत्रस्य लक्षणत्वमधिकारत्वं च सम्यगुप-
पाद्येताम् ।

उत्तरम्—लक्षणं तावत्—प्रहणक्षुणादिष्वयेषु उत्तरसूत्रानुगतेष्वणो विधायक-
म् । ननु लक्षणं तावदूर्ध्यर्थम्, “तस्येदम्” इत्यनेन चाक्षुषादीनाम् “संस्कृते
भक्षाः”, इत्यनेन दर्षदादीनां सिद्धेः । तथाऽधिकारोऽपि वृश्यर्थः । उत्तरसूत्रेषु
निर्दिष्टानामर्थविशेषाणामपत्यादित्वतुरस्यन्तादन्यत्वस्य सिद्धत्वादिति वाच्यम् ।
अत्रोच्यते—“शैषिकात्सरूपः शैषिको न” इति-वक्ष्यमाणार्थस्य विषयलाभाय शेषा-
धिकारस्तावदावद्यकः । शैषिकत्वप्रयुक्तकार्यविशेषं छवनयितुं क्रियमाणः शेषा-
धिकार एव “शैषिकान्मतुबर्थीयात्” इत्यादिलोकं ज्ञापयति । अपत्यादिष्वयेषु
घादीनां निवृत्यर्थमप्यधिकार आवद्यकः । एवं स्थिते चाक्षुषमित्यादिषु गृह्यमाण-
त्वादिप्रकारकोषनाय विधायकत्वमपि सुवचम् । इति शेषाधिकारः ।

अथ ठगाधिकारः ।

प्रश्नः—आकर्षात्पर्पादेभस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च । आवस-
थात्किसरादेः षितः षडेते ठगाधिकारे ॥ इयं कारिका व्याख्येया ।

उत्तरम्—आकर्षादित्यादि इलोकवार्तिकमिदम् “प्राग्वहतेष्ठक्” इत्यादौ
ठगिति ठगिति वा छेद इति संशयनिवृत्यर्थम् “आकर्षात्लठ्ल्” इति सूत्रभाष्ये
पठितम् । तत्र आकर्षादित्यनेन “आकर्षात्लठ्ल्” इति सूत्रं विवक्षितम् । “पर्पा-
दिभ्यः” इत्यनेन “पर्पादिभ्यः छन्” इति सूत्रं विवक्षितम् । “भज्ञादिभ्यः” इत्य-
नेन “भज्ञादिभ्यः छन्” इति सूत्रं विवक्षितम् । कुसीदसूत्रादित्यनेन “कुसीद-
दशैकादशात् छन्नष्ठ्चौ” इति सूत्रं विवक्षितम् । आवसथात् इत्यनेन “आवस-
थात् छल्” इति सूत्रं विवक्षितम् । किसरादेवित्यनेन “किसरादिभ्यः छन्” इति
सूत्रं विवक्षितम् । “प्राग्वहतेष्ठक्” इत्यधिकारे पृतैः सूत्रैविहिताः षट् प्रत्ययाः

षित हृत्यर्थः । ननु “कुलीद” इति । सूत्रे प्रत्ययद्वयविधानात् एतस्सूत्रषट्कविद्हि-
ताः सप्त प्रत्ययाः लम्बयन्त इति षट् षित हृति कथमिति चेतुच्यते—षडिति सूत्र-
षट्केन विहिता हृत्यर्थः । प्रत्ययास्तु सप्त । इति ठाखिकाः ।

अथ तद्वितेषु प्रागिदशीयाः ।

प्रश्नः—प्रागिदशीयानां विभक्तिसंज्ञाफलानि लिखत ।

उच्चरम्—प्रागिदशीयानां विभक्तित्वे त्यदाश्चत्वं “न विभक्तौ तु स्माः” इतो-
त्संज्ञानिषेधः, “तद्वितशासर्वविभक्तिः” हृत्यव्ययसंज्ञा, विभक्तिस्वरूपेतिव त्वारि-
प्रयोजनानि । तथाहि—तच्छब्दात् “पञ्चम्यास्तसिल्” इति तसिलप्रत्यये, तसिलो
विभक्तित्वात् विभक्तौ विधीयमाने “त्यदादीनामः” इति त्यदाश्चत्वे “न विभक्तौ
तु स्माः” इति सकारात्मेत्संज्ञानिषेधे “तद्वितशासर्वविभक्तिः” हृत्यव्ययसंज्ञायाच्च
विभक्ततेर्लुकि तत् इति जायते । एवच्च प्रयोजनत्रयत्वैकमेवोदाहरणम् । स्वरत्य तु
इति इति । अत्रेदंशब्दात्तसिलि “हृदम हश्” इति इशादेशे “ऊडिदम्” हृत्यादिने-
दमः परस्य तस आद्युदात्तत्वम्, असति तु विभक्तित्वे लिति प्रत्ययात्पूर्वमाद्युदा-
त्तत्वं स्यात्, स्पष्टच्छेदं “सद्यः परदू” हृत्यादि । सूत्रव्याख्यानं मूलं एव द्रष्टव्यम् ।

इति तद्वितेषु प्रागिदशीयाः ।

अथ तद्वितेषु प्रागिवीयाः ।

प्रश्नः—चतुर्थादनजादौ चेति कारिका व्याख्येया ।

उच्चरम्—चतुर्थादच ऊर्ध्वस्य लोपो वाच्यः । तेन बृहस्पतिदत्तशब्दात्
“बहूचो मनुष्यनाम्नष्टज्वा”, इति ठचि दत्तशब्दस्य लोपे ठस्येकादेशे बृहस्पतिक
इति सिद्धयति । ‘अनजादौ च विभाषालोपो वक्तव्यः’ । देवदत्तशब्दात्कप्रत्यये द-
त्तशब्दस्य पाक्षिके लोपे देवदत्तको देवक इति रूपहृयम् । पूर्वपदस्य च लोपो वा
भवति । अनजादाविति नान्न सम्बद्धयते । तेन देवदत्तशब्दात् ठचि घनि हलचि
कप्रत्यये च क्रमेण दत्तिकः—दत्तियः—दत्तिलः—दत्तक इति रूपाणि सिद्धयन्ति । अ-
प्रत्यये—विनापि प्रत्यये पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपः । तेन देवदत्तशब्दात् ठाजादिप्रत्यय-
स्याऽभावेऽपि पूर्वोत्तरपदयोः क्रमेण लोपे देवदत्तः दत्तः—देवः इति रूपाणि । सत्य-
भामा—भामा—सत्या इति च । उ इति लोपस्य पूर्वार्थसंज्ञा । उवर्णात्परस्ये-
क्षचो लोपः स्यात् । “आदेः परस्य” इति इकारस्य लोपः, तेन भानुदत्तशब्दात्
“वनिलचो च” इति हलचि भानुदत्तः—भानुलः, इति सिद्धयति । इति प्रागिवीयाः ।

तद्विचेषु तद्राजाः ।

प्रश्नः—‘काकतालीयः’ इति अर्थनिर्देशपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—काकागमनमिव तालपतनमिषेति विप्रहे काकशब्दः काकागमन-सदृशे देवदत्तागमने लाक्षणिकः । तालशब्दस्तु तालपतनसदृशे चोरागमने लाक्षणिकः । काकगमनसदृशदेवदत्तागमनं तालपतनसदृशचोरागमनमिति च काकतालमिति समासाद्वबोधः । अत्र अस्मादेव विधिवलात् “सुप्तुपा” इति समासः । ततः काकतालेति समासात्साहृदयान्तरे छप्रत्ययः । ताहशचोरसमागमे सति तालपतनवृतकाकमरणसदृशे देवदत्तस्य चोरकृतो वध इति छप्रत्ययाद्वबोधः । इति तद्राजाः ।

अथ द्विरक्तप्रक्रिया ।

प्रश्नः—“कर्मधारयवदुत्तरेषु इति सूत्राभिप्रायः सेदाहरणो वर्णनीयः ।

उत्तरम्—कर्मधारयवत् इति । इति उत्तरेषु द्विर्वचनेषु कर्मधारयवत्कार्यस्यात् । कर्मधारये यानि सुब्लोपपुंवद्भावान्तोदात्तत्वानि भवन्ति, सान्यत्रापि स्युरित्यर्थः । यथा—‘पटुपट्टी’ हृत्यन्त्र “प्रकारे गुणवचनस्य” इति सूत्रेण पट्टी-शब्दस्य द्विर्वचने कर्मधारयवत्वात् “दुन्वत्कर्मधारय” इति पुर्वखण्डस्य पुंवत्वं “स-मासस्य” हृत्यन्तोदात्तत्वञ्च भवति । ‘वोतो गुणवचनात्’ इति ढीषोऽभावे पुंसि वा पटुरिति सुबन्तस्य द्वित्वे कर्मधारयवद्भावात् “सुपो धातु” इति सुलोपः “स-मासस्य” हृत्यन्तोदात्तत्वञ्चेति दिक् ।

प्रश्नः—“एकं बहुवीहिवत्” इति सूत्रं शङ्कानिरासपूर्वकं द्वयाख्येयम् ।

उत्तरम्—“विभाषा दिक्समासे बहुवीही” हृत्यतो बहुवीहिप्रहणेऽनुवर्त्तमाने “न बहुवीही” हृत्यत्र पुनर्बहुवीहिप्रहणं त्र मुख्यबहुवीहिसमासश्चिकीर्षिता भवति, तत्रैव सर्वनामसंज्ञा न स्यादिति निषेधति । एवज्ञात्र “एकं बहुवीहिवत्” इति सूत्रेण बहुवीहिसमासे यत् कार्यमन्तर्भवति, तत् कार्यमन्त्रापि स्यादिति आरापयति । तेनात्र बहुवीहिसमासाभावात् सर्वनामसंज्ञायामुक्तप्रयोगसिद्धिः । सूत्रप्रत्याख्याने सर्वनामसंज्ञायां विवाद एव नास्ति । सूत्रसत्तायामपि “एकं बहुवीहिवत्” इति सूत्रेण बहुवीहिसमासारोपो भवति, तेन च सुबलुक्पुंवज्ञावौ सिद्धयतः । न तु बहुवीहिसमासो भवतीति संदेहाभाव इति तिक् ।

प्रश्नः—वहुलप्रदृष्ट्य प्रयोजनं लिख ।

उत्तरम्—**खीलिङ्गे पदद्वये टाबभावो भवति । नपुंसकलिङ्गे च स्वमोः स्था-**
नेऽडूडादेशस्य विरहो—भभावो भवति । अन्यपदैः सह अन्यादिशब्दानां समासे
सति सोः—सुविभक्तेरलुक् च भवतीत्येतत् कार्यन्वयं, बाहुलकात्—बाहुलप्रणात् सि-
द्धम्भवति । खीलिङ्गेऽन्योऽन्यमित्यादौ पदद्वये टाप् न भवति । नपुंसकलिङ्गेऽन्यो-
ऽन्यमित्यादौ अद्वादेशो न भवति । अन्योऽन्यसंसकमित्यादिसमासस्थले पूर्वं
पदघटकसोरुक् च न भवति । अत्र च “अन्योऽन्यसंश्वयं त्वेतत्” इति भाष्योक्तं
प्रमाणमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘दलद्वये टावभावः’। इति कारिका सोदाहरणं व्याख्येय।

उत्तरम्—“कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नः” इत्यत्र बहुलग्रहणस्य प्रयोजनमाह—
दलद्रये इत्यादिना । श्वीलिङ्गेभव्यपरेतरशब्देषु कर्मव्यतिहारे द्वित्वे सति पूर्वी-
त्तरखण्डयोः टाडिन्वृत्तिर्बहुलग्रहणस्य प्रथमं प्रयोजनम् । न च सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे
पुंखद्वावः । अन्यपरयोरसमासवद्वावात् । न च द्विर्वचनमेव वृत्तिः । ‘यां यां प्रियः
प्रैक्षत कातराक्षी सा सा’ इत्यादावतिप्रसङ्गात् । अत्र हि द्विर्वचनस्य वृत्यन्तभावे
यां यामित्यत्र सासेत्यत्र च “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे” इति पूर्वखण्डस्य पुंखत्वं स्था-
न् । नपुंसके च “अन्योऽन्यमित्तरेतरम्” इत्यत्र “अदण्डतरादिभ्यः” इति सोः प्रा-
सोऽण्ड बाहुलकान्नं भवतीति तत्प द्वितीयं प्रयोजनम् । ‘अन्योऽन्यसंसक्तमहस्ति-
यामम्’ ‘अन्योऽन्याश्रयः’ ‘परस्पराक्षिसाहश्यम्’ ‘अपरस्परैः’ इत्यादिषु सोलुंक्
प्राप्तो बाहुलकान्नं भवतीति सोलुंकचेति तृतीयं प्रयोजनम् । अत्र कृतद्वित्वेषु स-
मासावयवेषु पूर्वखण्डस्य छावदेशस्य सोलुंक् प्राप्तः । छावदेशानन्तु असमासे
चरितार्थम् । इति द्विरुक्तप्रक्रिया ।

अथ भवादिप्रकरणम् ।

प्रश्नः—“हलादिः शेषः” इत्यस्य तदा व्याख्यानं कुरुत, येन ‘आट, आटूः’ इत्यन्न दोषो न भवेत् ।

उत्तरम्— “हलादिः शेषः” अभ्यासस्थादिर्हंल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते इति सूत्राण्ये ‘पपाच’ हत्याकौ अभ्यासस्थादिर्हंल् वर्तते, तत्र अन्यहलो लोपो भवति । ननु ‘आट आटनुः’ हस्त्याकौ तु अभ्यासस्थादिर्हंल् नाप्ति तत्र कथं हल-लोपः स्थादिति चेदुच्यते—“हस्तोऽहलादिः शेषः” इति संहितापाठे, अभ्या-

सत्य हस्तो भवतु । ततोऽभ्यासोऽहल् भवतु—हल्लहितो भवतु, ततोऽभ्यासस्या-
दिः शिष्येत् , अभ्यासस्याशक्तरो वर्ततां नाम इति वाक्यार्थंन्रयेणाजादिधातुऽवपि
अभ्यासोऽहल् भवतु इति वाक्यार्थेन न काप्यनुपत्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—‘येन नाभ्यवधानम्’ इत्यस्याभिप्रायो दर्शनीयः ।

उत्तरम्—ननु “पुगन्तलघूपद्यत्य च” इत्यत्र “सार्वधातुकार्धधातुकयोः”
इत्यस्याङ्गविशेषणत्वे सार्वधातुकार्धधातुकाऽव्यवहितस्याङ्गस्येको गुणो भवतीत्य-
र्थकरणे भिनतीत्यापि गुणापत्तिः, तयोरिको विशेषणत्वे तु ‘भेत्ता’ इत्यन्नापि गुणो
न स्यात्तकाशरूपस्यैकवर्णस्य व्यवधानेन सार्वधातुकाऽव्यवहितत्वाऽभावादित्या-
शङ्क्य समाधत्ते—‘येन नाभ्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि भवति’ इति । यद्वर्णकर्तृकठ्यव-
धानशून्यत्वं न सम्बवति तद्वर्णव्यवधानेऽपि भवतीति तदर्थः । तथाच सूत्रसार्थ-
क्यायैकवर्णव्यवधाने प्रवृत्तावप्यनेकवर्णव्यवधानेऽप्रवृत्त्या ‘भेत्ता’ इत्यत्र गुणो जातः,
भिनतीत्यादौ तदभावश्च । “दीर्घीवेवीटाम्” इत्यत्रत्येद्युग्महृणस्यवान्न ज्ञापकत्वम् ।
एवज्ञ अस्मिन्निषेषसूत्रे गुणाऽभावार्थमेवेदो ग्रहणम् , उक्तरीत्या गुणाऽभावोपपाद-
नेन व्यर्थमेवेदो ग्रहणं; ज्ञापिते तृकार्थं सर्वं समज्ञसमितिं दिक् ।

**प्रश्नः—भवतात् इत्यापवादभूतस्यापि “डिच्च” इत्यस्य कथ-
मुत्सर्गेण बाधो दर्शितः तत्सङ्गतार्थतां प्रदर्शयत ।**

**उत्तरम्—‘परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः’ इति परापेक्षयापवा-
दस्य प्रबलत्वात् भवतादित्यादितुं ‘डिच्च’ इत्यन्तादेशत्वमेव युक्तमिति चेद्, सत्यम् ।
तथापि अभ्तादेशत्वादन्यार्थशून्येषु आनडादिषु चरितार्थो “डिच्च” इति विधिः,
द्विष्टादित्यादौ लघूपदादिगुणनिषेधेन, स्तुतात् युतादित्यादौ “दुतो वृद्धिर्लुकि हल्लि”
इति विहिताया वृद्धेनिषेधेन उष्टादित्यत्र सम्प्रसारणेन च सम्भवतप्रयोजने तातडो
क्कारे मन्दं मन्दं प्रवृत्तः सन् परेणोत्सर्गसूत्रेण बाध्यते ।**

ननु तातङ्गविषये “डिच्च” इतिविधिर्मन्दं प्रवर्तताम्, तथापि पूर्वोक्तपरिभाषा
परस्यापि सवदेशविधेत्पवादभूतेन “डिच्च” इत्यनेन बाध प्रयोचितः । सत्यम् ।
तथापि इहोत्सर्गापवादयोद्द्वयोरपि सम्बलत्वम् । अपवादशास्त्रस्य हि परनित्या-
न्तरङ्गापेक्षया प्रावस्थे निरवकाशत्वमेव बीजम् । तेन “डिच्च” इति विधिः आन-
डादित्वमन्तादेशत्वैकप्रयोजनकं प्रयोजनान्तरविरहेण निरवकाशत्वात् प्रविति परि-
गृह्नन् छतार्थतामनुभवन् तातडो छित्खं प्रयोजनान्तरस्त्वेन सावकाशत्वातुपेशते

प्रश्नः—योसुटो डित्करेण भूयात् इत्यत्र गुणाभावरूपस्य
फलस्य सत्वेऽपि कथं “डित्वोक्तेः” इत्यादिग्रन्थेन प्रतिपादितो दी-
क्षिताभिप्रायः सङ्गच्छुते । कथं वा डित्वोर्किं परित्यज्य शानचः शि-
त्वमाश्रितमित्युदाहरणपुरस्सरं लेखसौष्ठवेन व्याख्येयम् ।

उत्तरम्—भूयादित्यत्र यादुषो डित्वस्य गुणाभावरूपं न फलं, गुणाभावस्य
लिङ्गो डित्वेन ब सिद्धत्वात् । ‘यदागमा’ इति न्यायेन यासु दागमो लिङ्गादेशप-
रस्मैपदावयवः । अयत्वे कृते डित्वमानर्थक्यात्तदङ्गस्यायेन समुदाये आगमविशि-
ष्टतिबादौ विश्वास्यति, ततश्च स्थानिवत्त्वेनैव डित्वसिद्धेयसुटो डित्वविधिवर्यर्थः ।
न च स्थानिभूतलिङ्गो छकारस्यात् इत्वेन गुणनिषेधविधावाश्रयणादनलिवधाविति-
निषेधः शङ्खः । “घुमास्थ्यागापाजहातिसां हल्लि” इति “कृडिति” विहितस्य इत्व-
स्य “नखयपि” इति निषेधेनानुबन्धकायेऽनलिवधाविति निषेधाभावज्ञापनादतो दी-
क्षिताभिप्रायः सङ्गत एव । ननु क्वचिदनुबन्धकायेऽनलिवधाविति निषेध इत्यत्र
यासुटो डित्ववचनं ज्ञापकं भवितुं नार्हति । अनुबन्धकायें सर्वत्रानलिवधाविति निषेध-
भावावे सत्यपि यासुटो डित्वस्य तिपसिप्मिभागमयासुटो डित्वर्थमावश्यकत्वात् ।
नहि लिङ्गादेशत्वेऽपि तिपसिप्मिणां डित्वं स्थानिवत्त्वलभ्यम् । “हलः इनः शान-
ज्ञसौ” इति सूत्रभाष्ये “छिच्च विन्न पिच्च हिन्न” इति प्रपञ्चितत्वात् । अत
एव रुयादित्यादौ विशेषविहितेन डित्वेन वित्वस्य बाधात् “इतो वृद्धिर्लुकि हलि”
इति न प्रवर्तते इत्यपरितोषात् डित्वोर्किं परित्यज्य शानचः शित्वमाश्रितम् ।

प्रश्नः—योसुटो डित्करणस्य प्रयोजनं निरूपय ।

उत्तरम्—“न लयपि” इति सूत्रेणाऽनुबन्धकायें कर्तव्ये “अनलिवधौ” इति
निषेधो न प्रवर्तते इति ज्ञापितेन स्थानिवज्ञावात् लिङ्गवृत्तिडित्ववर्धमस्यानयनेन
डित्वप्रयुक्ते कायें सिद्धे “यासुट् परस्मैपदेष्वदात्तो डिच्च” इति सूत्रे डित्वप्रहृणं
व्यर्थमेव । तदेव अर्थं सत् ‘क्वचिदनुबन्धकायेऽपि “अनलिवधौ” इति निषेधः प्रव-
र्तते इति ज्ञापयति । तेन “वक्ष्यमाणा” इत्यत्र ढीपोऽभावः सिद्ध इति फलम् । न
च भाष्ये “पिच्च डिन्न पिच्च विन्न” इति व्याख्यानादौपदेशिकत्वेन तिबादिवृ-
त्तिवित्वेन आरोपितो लिङ्गवृत्तिडित्वधर्मो बाधयते हुति “यासुट्” इति सूत्रे डित्व-
स्यां सफलमिति वाच्यम् ? “हलः इनः शानज्ञसौ” इत्यत्र पूर्ववत्स्थानिवत्त्वेन शित्व-
धर्मस्य आनयनेन सिद्धौ व्यर्थोभूतेन शानज्ञवटकशकारेण पूर्वार्थस्य ज्ञापितत्वात् ।

प्रश्नः—“अतो येयः” इत्यत्र ‘सार्वधातुके’ इत्यनुवृत्तेः फलं लिख ।

**उत्तरम्—“अतो येयः” इत्यत्र सार्वधातुकपदाननुवृत्तौ मध्यपटिता अप-
बादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” इति न्यायात “अतो येयः” इति शास्त्रम्
“अतो लोप” इत्यस्यैव बाधको भवेत्, न तु “अतो दीर्घो यज्ञि” इति सूत्रस्य ।
एवम् ‘चिकीष्याद्’ इत्यत्र इयादेशापत्तिः, भवेदित्यत्र च परत्वाद् “अतो दीर्घो
यज्ञि” इति सूत्रेण ‘दीर्घापत्तिरिति दोषद्वयपरिहारार्थं सार्वधातुकपदानुवृत्तिः
कायेति दिक् ।**

**प्रश्नः—‘भवेयुः’ इत्यत्र “उत्तरपदान्तात्” इत्यस्य प्राप्तिः
करं वारिता ।**

**उत्तरम्—‘भवया—उस्’ इति जाते अत्र परत्वान्नित्यत्वाच्च “उत्तरपदा-
न्तात्” इति सूत्रं बाधित्वा “अतो येयः” इति इयादेशे ‘भवेयुः’ इति प्राप्तः ।
वस्तुतस्तु सार्वधातुकसंज्ञानिरपेक्षय “उत्तरपदान्तात्” इति सूत्रस्यान्तरङ्गत्वेन
पररूपमेव न्यायं स्यादिति “अतो येयः” इति सूत्रस्य सार्वधातुकावयवस्य यास्
इत्यस्येयादेशः स्यादिति व्याख्या कार्या । तेन च सलोपस्यापवाद ह्य स्यात् ।
न च ‘अतो यास् हय्’ इत्यत्र सस्य रूपे यत्वे लोपे च सति यलोपस्यासिद्धत्वात्
गुणो न भवतीति वाच्यम् । सौत्रत्वादिति दिक् ।**

प्रश्नः—‘प्रत्यये किम् ? ववश्च, इमां फक्तिककां यथार्थं प्रतिपादय ।

**उत्तरम्—‘ओवश्च छेदने, लिटि णल् द्वित्वं “लिङ्गभ्यासस्य” इति अ-
भ्यासरेफस्य सम्प्रसारणम् ऋकारः । उरव् । रपरत्वम् । हलादिः शेषः । ‘ववश्च’
इति रूपम् । “उरव्” इत्यत्र अङ्गस्याभिकारे वर्तते । ततङ्गाङ्गावयवाभ्यास-
कारस्यात्स्यात्प्रत्यये परे इति सूत्रार्थो भवति । एवम्भात्वादेशः परनिमित्तो भव-
तीति वकारस्य सम्प्रसारणे कर्तव्ये “अचः परस्मिन् पूर्वविधौ” इति सूत्रेण ऋका-
रस्य सम्प्रसारणं न भवति । यदि अङ्गेन प्रत्ययस्याक्षेपो न स्यात्तदा “अचः पर-
स्मिन्” इतिसूत्राप्रवृत्या वकारस्य सम्प्रसारणं स्यादेव ।**

**प्रश्नः—आमो मकारस्येत्वाभावं निरूप्य ‘कृञ्ग्रहणसामर्थ्याद्-
न्यस्याप्रयोगे प्रमाणं दर्शय ।**

उत्तरम्—ननु “इजादेश गुरुमतोऽनुच्छः” इत्येतत्सूत्रविहिताऽमृष्टकमका-

रस्य हल्तुवेन इत्संज्ञा स्थादिति चेद् ? न । आस॒धातोः कास॒धातोश्च “दयाया-
सङ्क्षच्” “कास॒प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि” इति आम॒विधानसामर्थ्यात् । यथा॒ मका-
रस्येत्संज्ञा स्थात्तदा आस॒धातोः कास॒धातोश्चाऽम॒विधाने व्यर्थं स्थात्त्रापीसं-
ज्ञाया दुर्वारत्वादिति तत्सामर्थ्यादित्संज्ञाऽम॒विधाने न प्रकृते काप्यापत्तिः ।
न च मिष्ठावादन्त्यादवः परत्वसामर्थ्यादित्संज्ञातविरोधिन्यायेन सर्वणीदीर्घस्यैव वा-
धोऽस्त्विति वाच्यम् । सर्वणीदीर्घवाधापेक्षया इत्संज्ञावाधस्यैव समुचितत्वात् ।

नु “कृञ्जानुप्रयुज्यते” इत्यतः कृञ्जोऽनुद्रुत्यैव सिद्धे “आम॒प्रत्ययवत्कृञ्जोऽनु-
प्रयोगस्य” इत्यप्रत्यकृञ्जप्रहणं फलाभावाद्वयर्थं सज्जापयति—भवत्यन्यस्याऽप्यनुप्र-
योगः । तेन “कृञ्वस्त्वितयोगे सम्पद्यमाने कर्त्तरि चिच्चिवः” इत्यत्र कृञ्वदमादाय “कृ-
ञ्जो द्वितीयाः” इत्येतद्वटकजकारेण कृञ्प्रत्याहाराभ्ययेन कृञ्वस्तीनामनुप्रयोगलाभः ।
तेषां कृञ्वस्तीनां क्रियासामान्यवाचकत्वेनाऽमप्रकृतीनां क्रियाविशेषवाचित्वेन तद्-
र्थयोरभेदान्वयः सामान्यविशेषयोर्धिटो नीलघट इत्यादौ विधेयांशेऽधिकावगाहिशा-
ब्दबोधस्य नवीनैरभ्युपगमात् । न चोक्तरीत्या कृञ्वस्त्वितलाभे सम्पदोऽपि प्रत्याहारा-
न्तर्गंतत्वेन लाभात्कुतो न प्रयोग इति वाच्यम् । तस्य तथात्वेऽपि अनन्वितार्थ-
त्वेन अप्रयोगात् । तथा च—एधाङ्के इत्यादित एककर्तृकभूतानश्चतनपरोक्षकालिक-
त्रुद्यमिन्नक्रियेति शाब्दबोधः ।

प्रश्नः—‘इन्द्राञ्चकार’ इत्यत्रापि कुतो न तडिति साधु वदत ।

उत्तरम्—नन्विदाङ्ककरेत्यादौ परगामिनि क्रियाफले “आम॒प्रत्ययवत्”
इति सूत्रेण माल्त्वात्मनेपदम् ‘इदि परमैक्येण’ इति धातोः परस्मैपदित्वेनात्मनेप-
दाभावात् । आत्मगामिनि तु क्रियाफले “ध्वरितविति” इत्यात्मनेपदं दुर्वारम् ।
अस्य सूत्रस्य एधाङ्के इत्यादौ परगामिनि क्रियाफले आत्मनेपदस्याप्राप्तस्य वि-
धान पूर्व समर्थतया तत्रात्मनेपदस्य निवारणे सामर्थ्याभावात् इति प्रष्टुराशयः ।
उत्तरवितुस्त्वयमाशयः—अस्मिन् सूत्रे “पूर्ववत्सनः” इति पूर्वसूत्रात्पूर्ववदित्यनुव-
र्त्य “आम॒प्रत्ययवत्कृञ्जोऽनुप्रयोगस्य” इत्येकं वाक्यं, “पूर्ववत्कृञ्जोऽनुप्रयोगस्य” इति
द्वितीयं वाक्यम् । तत्र पूर्ववदिति तृतीयान्ताद्वितिः । पूर्वेण पूर्वप्रयुक्तेन पूर्वादिधातुना
तुल्यमित्यर्थः । तत्र वाक्यद्वयस्य समानार्थकत्वे वैयर्थ्यात् द्वितीयं वाक्यं नियमार्थं
सम्पद्यते पूर्ववदेवात्मनेपदं न तु तद्विपरीतमिति । पूर्वा पूर्ववाक्येन पूर्वाङ्के के इत्या-
दौ कृञ्जः परगामिन्यपि क्रियाफले आत्मनेपदविधिः, द्वितीयवाक्येन तु द्वावचक्करे-

स्वादा कर्तुं गामिनि क्रियाकले “स्वरितवित” हृत्यात्मनेपदस्य निवृत्तिः क्रियते ।

प्रश्नः—“एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्” इति सूत्रे एकाच्छ्राहणस्य प्रयोजनमुपपादय ।

उच्चरम्—ननु ऊहदन्तैरित्यादिना परिगणितानामनुदात्तोपदेशधातुनामेका-
च्चाव्यभिचारादेकाज्ञाप्राहणं मास्तु । ‘उपदेशेऽनुदात्तात्’ हृत्येवास्तु । एतावतैव
कर्तुं चक्रये हृत्यादाविडनिषेधसिद्धेरिति प्रष्टुराशयः । उत्तरदित्सोस्त्वयमाशयः ।
यद्भूलिकं चर्करितेत्यादौ हृषिणिषेधव्याख्यात्वृत्ये एकाज्ञाप्राहणम् । न च कृतेऽप्येकाज्ञाप्राहणे
कथं यद्भूर्गव्याख्यात्वृत्तिः । कृते द्वित्वेऽनेकाच्चेऽपि धातुपदेशे एकाच्चादिति वाच्यम् ।
“शितपाशपाऽनुबन्धेन” हृत्यादिकारिक्या तन्निषेधात् । पवच्च व्यर्थीभूतेनानेनैका-
ज्ञाप्राहणेनैव ज्ञाप्यते । न च शितपाशपाश्चये कथमिदं ज्ञापकमिति शङ्ख्यम् । एकदे-
शानुमतिद्वारा सर्वत्र ज्ञापनस्य “उपपदमतिह्” हृत्यादौ दृष्टत्वात् ।

प्रश्नः—‘आदेशाश्चेह वैरूप्यसम्पादकं पव गृह्णते, शसिदध्योः
प्रतिषेधवच्चनाज्ञापकात् इयं फक्षिका व्याख्येया ।

उच्चरम्—“अत एकाल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि” इति सूत्रेऽनादेशादेरिति पदे
आदेश आदौ यस्य स आदेशादिः न आदेशादिरनादेशादिस्तस्येति समासे जाते
आदेशपदेन यो हि वैरूप्यस्य रूपान्तरस्य सम्पादकः—कारकः, स पव ग्राहाः ।
यथा—‘जगाद्’ हृत्यन्तं गकारस्य जकारादेशो भवति । तत्र गकारस्यान्यद्वयं जा-
यते । तथा च धधधात्त्वादौ दकारस्य दकाररूपादेशो जातेऽपि एत्वाभ्यासलोपौ
भवत एव । प्रमाणभवात्र “न शसददवादिगुणानाम्” इति सूत्रे एत्वप्रतिषेधार्थं
शसिदध्योः पाठः । अन्यथा आदेशपदेन यदि सामान्यादेशस्य ग्रहणं स्यात्तदा
शसिदध्योरपि “अभ्यासे चर्चं” इति सूत्रेण शकारस्य शकाररूपादेशो दकारस्य
च दकाररूपादेशो भवत्यवेति तत्रैत्वविधायकसूत्राप्रवृत्तौ निषेधकशास्त्रे तयोः
पाठो निष्पल एव ।

प्रश्नः—षोपदेशकारिका व्याख्यायताम् ।

उच्चरम्—षोपदेशान् संगुडाति—सेक्-सृप्-स-सृ-सृज्-स्तृ-स्त्याऽन्ये द-
न्त्याजन्तसाक्षयः । एकाचः षोपदेशः ष्वष्क्-स्विद्-स्वद्-स्वज्ञ-स्वप्-स्मिडः ॥
इति । सेगिति—दन्त्याजन्तसाक्षयः एकाचः षोपदेशः स्युरित्यन्ययः । दन्त्यश्च
अच्च दन्त्याज्ञौ तौ अन्तौ अव्यवहितपरौ यस्य स दन्त्याजन्तः, तथाविचः सः-

सकार-आदियेषां ते दन्त्याजन्तसादयः । दन्त्यपरकोऽच्चपरकश्च यः सकारस्तदादय एकाचो धात्रव हृदानीं कृतसत्वास्तसकारादित्वेन परिहृष्यमाना अपि षकारादित्वेनोपदिष्टा हृति प्रत्येतत्था हृत्यर्थः । नन्वेव सेक्षुप्रभृतीनामपि षोपदेशत्वं स्यात् , आशानां चतुर्णामच्चपरकसादित्वादन्त्यानां च त्रयाणां दन्त्यपरकसादित्वादतः सेक्षुप्रभृतीन्वारयति । नन्वेवमपि ष्वगादीनामसहग्रहः स्यात् , एषु सकारस्य दन्त्याच्चपरकत्वाभावात् , अतस्तानंसंगृहाति-इवगित्यादिना । अत्र दन्त्यपदेन केवल दन्त्यो गृहते, न तु दन्त्योष्टजोऽपि ष्वगादीनां पृथग्ग्रहणाज्ञापकात् ।

प्रश्नः—“तस्मान्तु द्विहृलः” इति सूत्रे ऋकदेशस्य रेफस्य हल्त्वेन ग्रहणे द्विहल्प्रहणस्यानेकहलुपलक्षणत्वे च प्रमाणं प्रदर्शयत ।

उत्तरम्—“तस्मान्तु द्विहृलः” हृति सूत्रे ऋकदेशस्य रेफस्य हल्त्वेन ग्रहणे हृदं प्रमाणम्—“एओङ्” ऐओङ् हृति द्वि सूत्रभाष्ये “बुद्धिलादेशविनामेषु ऋकग्रहणं कर्तव्यम्” हनि प्रतिपाद्य “वर्णकदेशा वर्णग्रहनेन गृह्णान्ते” हृति समर्थितम् । इदमेव च तत्र मानम् । द्विहल्प्रहणस्यानेकहलुपलक्षणत्वे च द्विप्रहणमेव प्रमाणम् । अन्यथा हल हृत्येव विदध्यात् । आत आटेत्यादौ एकहल्धातुषु तु न दोषः “अइनोतेइच्च” हृति नियमात् तस्मादुक्तार्थं प्रमाणं प्रदर्शितम् ।

प्रश्नः—‘उवोख’ हृत्यत्रामोऽभावं निरुप्य ‘ऊखतुः’ इति रूपं शङ्का-निरासपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—उखधातोः “परोक्षे लिट्” हृति लिटि, तिपि णलि, द्वित्वे, अभ्यासकाये कृते ‘उ उख अ’ हृति भूते “पुगन्तलघृपधस्य च” हृति गुणे “अभ्यासस्यासवणे” हृत्युवडि ‘उवोख’ हृति जायते । न च अत्र हजादिगुरुमत्वात् आमस्यादिति वाच्यम् । सन्निपातपरिभाषाविरोधात् । तथाहि—आर्धधातुकाव्यवहिताङ्गाव्यवहक् हृत्याकारकसम्बन्धेन ज्ञायमानो गुणादेवो गुरुमत्वेन हगार्धीधातुकयोर्भूये पतिव्यतः आमप्रत्ययस्य निमित्तं न स्यात् ।

उखधातोः “परोक्षे लिट्” हृति लिटिति, लिटस्तसि, “परस्मैपदानां णलतुसुल्थल०” हृत्यादिना अतुसि द्वित्वे अभ्यासकाये उ उख् हृति स्थितेङ्गाधिकारत्वात् “वार्णादाङ्गं बलीयः” हृति परिभाषया ‘पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिर्भवति’ हृति युक्त्या पूर्वे हस्तो भवति ततो दीर्घः । दीर्घे च कृते “लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते” हृति न्यायात् पूर्णान्तवद्वावेनैकादेशे प्राप्तो हस्तो न भवति । परन्वाच्चेत्यत्यायमाश-

यः—“अकः सवर्णं दीर्घः” इति सूत्रस्य परत्वान्नाम परकालेन प्रवृत्तत्वात् । तथाच “हलादिः शेषः” इति सूत्रात्पूर्वं हस्तस्ततः ख्लोपस्ततो दीर्घः । एवम्भैकल्पिमन् काले हस्तदीर्घयोः प्रवृत्त्यभावेन “वार्णादाङ्गम्” इति परिभाषाया विषय एव ना स्तीति दीर्घं कृते ‘लक्ष्ये लक्षणम्’ इति न्यायादध्रुव्यभावाः ।

प्रश्नः—‘विव्यतुः’ इति शङ्कानिरासपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—अजधातोः “परोक्षे लिट्” इति लिटि, “लिट् च” इति आर्धधा- तुकसंज्ञायाम् “अजेव्यवृपोः” इति वीभावे सति लिटोऽतुसि “लिटि धातोरन् अ्यासस्य” इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् अभ्यासकार्ये च कृते “असंयोगालिट् किति” इति लिटः कित्वादगुणाभावे इयडपवादे “एरनेकाच” इति यणि ‘विव्य- तुः’ इति रूपम् । नन्वन्न द्वितीयवकारस्य यकारात्मकहल्परकत्वात् “उपधायाङ्गः” इति इकारस्य दीर्घः स्यादिच्च चेद् ? न । ईकारस्थानिकस्य यकारस्य “अचः परस्मिन्” इति स्थानिकत्वेन हल्परस्थाभावात् । न च “न पदान्त” इति स्था- निवद्वावस्य निषेधः । स्यादिति शङ्क्यम् , “स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानिवद्” इत्युक्ते ।

प्रश्नः—क्रादीनां चतुर्णां ग्रहणस्य नियमार्थत्वसुपपाद नियमा- कारः रूपसुपपादनीयः ।

उत्तरम्—ननु “कृस्यभू” पषां त्रयाणामनुदात्तत्वात् “एकाच् उपदेशेऽनुदा- त्तात्” इत्यनेन वृश्च उदात्तत्वात् “श्रयुकः किति” इत्यनेन थलोऽकित्वात् “श्रयुकः किति” इत्यस्याप्रवृत्त्या ‘ववर्थ’ इति वेदे निंदेशाच सर्वभैवेणिनेषे सिद्धे चतुर्णां ग्रहणं व्यर्थं सत् “एकाच् उपदेशेऽनुदात्तात्” इति प्रकृत्याश्रयेण “श्रयुकः किति” इति प्रत्ययाश्रयेण च लिटीणिनेषेषाचेत्तर्हि क्रादिभ्यश्चतुभ्यं प्रवेति नियमयति । वृश्स्तु वेदे एवेति च । तेनान्येषां धातूनां लिटीट्, लोके ‘ववरिथ’ इति च फल- द्वयं सिद्धयति । स्त्वादीनां चतुर्णां ग्रहणं तु विधित्वसम्भावनया भारद्वाजमतेन क्रदन्तातिरिक्तस्त्वादीनां थलीडागमः प्राप्नोति तन्निषेधार्थम् । वगादिषु क्रादि- नियमेन प्राप्तस्येहागमस्य निषेधार्थव्यचेति विधयर्थमेव । तथाहि—क्रादिनियमात् क्रादयेषां धातूनां लिटीट् प्राप्तौ अजन्तानाम् “अचस्तात्वस्थलयनिटो नित्य- म्” इत्यनेन अकारवताभ्योपदेशे “अत्वतः” इत्यनेन थलीणिषेधे सिद्धे “ऋतो भारद्वाजस्य” इति सूत्रं व्यर्थं सद् अजन्तार् मकारवताभ्य थलीणिषेधाचेत्तर्हि

ऋदन्तानामेवेति सामान्यापेक्षया नियामकम् । तेन थलि ऋदन्तादन्येषां धातुनां भारद्वाजमतेनेटि, अन्येषामाचार्योणां मते हडभाषे च पेचिथ पपकथ विविधं विवेषेत्यादित्यलेषु द्वे द्वे रूपे सिद्धध्यतः । नच भारद्वाजनियमेन स्त्वादीनामपि थलोट् स्थादिति वाच्यम् । ‘अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेषो वा’ हति परिभाषया ‘अचस्तास्वत्थरथयनिटो नित्यम्’ ‘उपदेशेऽत्वतः’ हति सूत्रद्वयेन प्राप्तस्त्वैवेणिन-पेषस्य भारद्वाजनियमस्य निवर्तकत्वात् । क्रादिनियमेन स्त्वादिग्रहणम् ‘अचस्ता-स्वतः’ हति ‘उपदेशेऽत्वतः’ हति सूत्रद्वयज्ञेविषेषार्थं वर्तते । तथाच-यथा भारद्वाजनियमेन ऋदन्तातिरिक्तधातुषु सूत्रद्वयं न प्रवर्तते, तथैव स्त्वादिग्रहणमपि न प्रवर्ततामिति न शङ्खयम् । ‘अनन्तरस्य’ हति न्यायादित्यलम् ।

प्रश्नः—‘संज्ञायाः कार्यकालत्वात्’ हति कारिका व्याख्येया ।

उत्तरम्—शास्त्रेऽस्मिन् ‘कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्’ ‘यथोदृदेशं संज्ञापरिभा-षम्’ हतिपक्षद्वयमध्यस्ति । तत्र कार्यकालपक्षपातिमाध्वमतं तावद्वयाच्छेदे—संज्ञाया इत्यादिना । “सन्वत्संबुद्धिः” “दीर्घो लघोः” हति सूत्रद्वये अङ्गद्वयेति अभ्यास-स्वेति चानुवर्तते । तेनाङ्गस्य ये द्रवे तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञकपत्तस्येति फलितम् । द्रवे हृत्यत्र च उच्चारणे हति विशेष्यसमर्पकमध्याद्वयते । तयोगादङ्गस्येति कर्मणि वष्टी । तेन यत्र कृत्स्नमङ्गं द्विरुच्यते न तु तरेकदेशमात्रं तत्रैव पूर्वस्य दीर्घसन्वद्गावौ स्व हति । पवश्चाङ्गस्य एकाचक्त्वे सत्येव तयोः प्रवृत्तिः, नत्वनेकाचक्तेनु चकास्त्य-र्थापयस्यूर्णोत्यादिषु । अत्र यन्तेभ्य पूर्भ्यश्चडिकृत्स्नमङ्गं न द्विरुच्यते, अपि तु द्वादेः प्रथमावयवोऽजादेस्तु द्वितीयावयवो द्विरुच्यते । पूर्वद्वैतेषां अचकासत् ; आर्हथपदः । औरुणवत् हृत्येव रूपाणि भवन्ति ।

अन्येवं हृत्यहलादिः शेषद्वच्छुत्वादीन्यपि अनेकाक्षु न स्युः । नचेषापत्तिः । दिदिरिद्रासति, जिगणयिषतोत्यादि लक्ष्यस्य सर्वसम्मतत्वात् । तन्निर्वाहार्थं यथो-द्रूदेशपक्षाश्रयत्वात् आह—वस्तुत इति । अङ्गस्येत्यत्यावयवषष्टीत्वादङ्गावयवा-भ्यासस्येति लभ्यते । ततश्च ऊर्जनि यन्ते चक्षि नु हृत्येकदेशस्यापि द्वित्वे और्जन-वदित्यत्र “दीर्घो लघोः” हृत्यभ्यासदीर्घो भवति । अर्थमाचष्टे हृत्यर्थं गिर्चापुगाग-मोऽर्थापिधातोश्चडिगिलोपे उपधाहस्वे थप् हृत्यस्य द्वित्वेऽपि दीर्घस्य ‘सन्वत्’ इतीत्वस्य च प्रवृत्तौ आर्तिथपदित्येवरूपं भवतीति जानोम हति तृतीयस्तोकार्थः ।

अङ्गस्यावयवं हति पक्षेऽपि चकासतौ विशेषमाह—चकासताविति । उभ-

अमिदमित्यस्य दीर्घः सन्वच्छेत्येतद् द्वयमित्यर्थः । न स्यात्स्याच्च द्वयवस्थया-
व्यवस्थया पक्षभेदेनेत्यर्थः । चहूपरे णौ यल्लच्छिति व्याख्याने न स्यात् । चहूपरे
णौ यदङ्गमिति व्याख्याने तु स्यात् । एवत्र अचचकसत् अचोचकासदिति व्या-
ख्याभेदेन रूपद्वयमित्यर्थः । नन्वस्मिन् व्याख्यानभेदे किं प्रमाणमित्यत आह—
इति व्याख्या । विकल्पपरयेति । ननु णौ इत्यस्यावृत्तिमस्युपगम्याऽग्लोपेऽपि तद-
न्वयः किमर्थं इत्यत आह—गेरग्लोपेऽपीति । अगितामपीति—कसु कान्ता-
वित्यादीनामपीत्यर्थः । सिद्धये—दीर्घसन्वज्ञावसिद्धिर्थमित्यर्थः । अन्यथा कसु-
प्रभृतीनामुकाराण्यनुवध्यत्वोपमादायाग्लोपित्वादीर्घसन्वज्ञावौ न स्यातामित्यलम् ।

प्रश्नः—‘कथं उद्यति’ इति शङ्कासमाधानपूर्वकं लिख ।

उत्तरम्—ननु अयधातुरात्मनेपदे पठित इति शानचूप्रत्ययस्थैव युक्तत्वेनो-
दृष्टीति शतप्रत्ययान्तप्रयोगः कथमिति चेद् ? न । कटीत्यत्र प्रदिलष्टत्व ईधातोः
प्रयोगस्य सत्वात् । अथवा चक्षिष्ठातौ इकाररूपानुदात्तस्वरेणैवात्मनेपदे सिद्धे
छकारोपादानं व्यर्थं सद् “अनुदात्तेत्वनिमित्तकमात्मनेपदमनित्यं भवति” इति
बोधयति । तेन अयधातोरनुदात्तत्वेऽपि उक्तवच्चनेन शतप्रत्ययस्य सिद्धिरिति स्वांशे
चारितार्थम् । अन्यत्र फलन्तु ‘एकायन्’ हृत्यत्र अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदत्वाभाव-
इति दिक् ।

प्रश्नः—चिंप्रत्ययान्तकियायां सर्वत्र तृतीयान्तस्य कर्तुरन्वये
द्वृश्यते, परं सति ‘अप्यायि तरुहस्तोऽसौ’ इत्यत्र असौ इत्यस्य अ-
प्यायि इत्यत्र अन्वयः कथं सङ्गच्छुते इति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—यत्र चिंप्रत्ययो भावकर्मणोर्विधीयते तत्रैव कर्ता तृतीयान्तो
भवति, प्रत्ययेन भावकर्मणोहक्तत्वात्कर्तुशानुक्तस्वात् अनुक्ते कर्तृरि तृतीयाविधा-
नात् । ‘अप्यायि तरुहस्तोऽसौ’ इत्यत्र तु “दीपजन” इत्यादिना कर्तृयेव चिंपि-
धानेन कर्तुरभिहितत्वात्प्रथमैव युक्ता । अतोऽसाविति पदस्य नासङ्गतिः ।

प्रश्नः—‘घस्लू—अदने’ अस्य प्रयोगः कस्मिन् लकारे भवति क-
स्मिन् लकारे नेति सप्रमाणं लिख ।

उत्तरम्—घस्लू—अदने अस्य न सर्वत्र प्रयोगः । यद्यन्यं सार्वत्रिकः स्यात्
तदा लिङ्गपि प्रयुज्येत । ततश्च ‘अद भक्षणे’ इति धातोः “लिङ्गन्यतरत्वात्”
इति घस्लूभावविचिह्निर्थर्थः स्यात् । ननु असार्वत्रिकत्वे सति क प्रयोगः क नेति

चेद् ? यत्र घस्त्वधातोः प्रयोगे ज्ञापकं प्रत्यक्षवचनं वास्ति तत्रैवास्य प्रयोगः । यथा—स्वादिगणे अत्रैव क्रमे अस्य पाठः शर्पि परस्मैपदे प्रयोगे लिङ्गमित्यर्थः । न च धातुसंज्ञार्थः पाठः इति शक्यम्, एत दीपावित्यतः प्राक् पाठैत्रैव सिद्धे अत्र क्रमे तत्पाठवैयर्थ्यात् । लकारोपादानम् अङ्गं प्रयोगं बोधयति । अनिदिका-रिकासु पाठो वलाच्यार्धधातुके प्रयोगं बोधयति । “सूघस्यदः कमश्च” इति सूत्रं कमरच्चप्रत्ययविषये प्रयोगो भवतीति बोधयति । एवज्ञ—लिङ्गवचनाभावादा-शिष्यस्याप्रयोगः ।

प्रश्नः—स्यन्दूप्रस्त्रवणे धातोर्लृटि प्रथमपुरुषैकवचने शङ्खानिरास-
पूर्वकं रूपं प्रसाधय ।

उत्तरम्—ननु लृटि स्ये सति “वृद्धयः स्यसनोः” इति परस्मैपदप्ले परत्वा-दूदिलक्षणमिड्विकल्पं बाधित्वा “न वृद्धयश्चतुर्भ्यः” इति इनिषेधे स्यन्तस्यती-त्येव रूपमित्यते, न तु स्यन्दिव्यति इति । तदयुक्तम्, अन्तरङ्गतया ऊदिलक्षण-स्यैव इड्विकलपत्य उचितत्वात् सकारादिविशेषापेक्षतया तडानाभावनिमित्ता-पेक्षतया च “न वृद्धयश्चतुर्भ्यः” इति निषेधस्य बहिरङ्गत्वादिति चेद्, न । “वृद्धयः स्यसनोः” इति परस्मैपदे कृते ऊदिलक्षणमन्तरङ्गमिति विकल्पं बाधित्वा “न वृद्धयश्चतुर्भ्यः” इति निषेधः, चतुर्ग्रहणसामर्थ्यात् । यदि शत्र ऊदिलक्षण इड्वि-कलप एव स्यात्, न तु “न वृद्धयश्चतुर्भ्यः” इति निषेधः, तर्हि चतुर्भ्यः इति व्यर्थं स्यात् । न च कृपूर्व्यवृत्तितत्कलमिति शङ्खयम्, “तासि च क्लृपः” इति चकारेण सकाराच्यार्धधातुकेऽपि नित्यमितिनिषेधप्रवृत्तेर्धक्षयमाणत्वात् । तथाच चतुर्ग्रे-हणं चतुर्णामपि सर्वत्र इनिषेधार्थमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘मत्स्योदके अनुष्यन्देते’ इत्यत्र षत्वं कथमिति व्रूत ।

उत्तरम्—ननु ‘मत्स्योदके अनुष्यन्देते’ इत्यत्र कथं षत्वं प्राणिकर्तृक्त्वस्या-ऽपि सत्वादिति चेदुच्यते—अप्राणिषु इति पर्युदासात् मत्स्योदके अनुष्यन्देते इत्य-आपि पक्षे षत्वं भवत्येव । प्राणिकर्तृक्त्वं नेति न प्रतिषेधः, येनात्र प्राणिकर्तृक्त्व-स्यापि सत्वात् षत्वं न स्यात् । किन्तु प्राणिभिन्नकर्तृक्त्वेति पर्युदास आश्रीयते । एवज्ञ प्राण्यप्राणिकर्तृक्त्वापि अप्राणिकर्तृक्त्वानपायादिह षत्वं निर्बाधमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘कमलवनेद्धाटनम्’ अत्र शङ्खासमाधानं निरूप्यताम् ।

उत्तरम्—ननु धातुपाठेऽर्थनिवेशस्योपलक्षणत्वादर्थान्तरवृत्तेरपि षटधातोर्ध-दादिकार्थंभवत्येव, अत एव षट्यति विष्टयतीत्यादावपि—सङ्क्लेषयति विष्क्लेष-

यतीत्याद्यर्थेऽपि हस्तः प्रवर्तते । एवत्र विकल्पनार्थेऽपि उद्धाटनमित्यादितु घःधातो-
णौ मित्यात्-हस्तः स्यादिति शङ्खाकर्तुराशयः । समाधित्सोस्त्वयमाशयः—चुरादौ
'घट सङ्घाते' इति धातव्यतरम् , तस्य णौ मित्याभावादुपधाहस्ताभावे उद्धाटनं
प्रविष्टायेत्यादि रूपम् । अर्थनिदेशस्योपलक्षणतया सङ्घातादन्त्र विकल्पेऽपि
तस्य वृत्तिरिति । न च चौरादिकस्य घट चेष्टायामित्यस्यैवार्थविशेषे मित्यार्थमतु-
षादोऽयमिति वाच्यम् । 'नान्ये मितोऽहेतौ' इति निषेधात् । अहेतौ—स्वार्थे गि-
चि ज्ञपादिपञ्चकव्यतिरिक्ताश्चुरादयो मितो नेति तदर्थः ।

प्रश्नः—‘विद्यथे’ इति रूपं शङ्खानिरासपूर्वकं प्रसाधय ।

उच्चरम्—व्यथ् व्यथ् ए हति स्थिते 'मत्यपि सम्भवे बाधनं भवति' इति
वचनेन यलोपविषये हलादिशेषलभ्यं यकारस्य लोपं बाधित्वा "व्यथो लिटि"
इति सूत्रेण सम्प्रसारणे यकारस्य "हलादिशेषः" इति लोपे "न सम्प्रसारणे सम्प्र-
सारणम्" इति निषेधे च कृते 'विद्यथे' इति रूपम् । न च 'अभ्यासविकारे बाधय-
बाधकभावो नालित्वा इतिवचनेन 'हलादिशेषापवादः' इति ग्रन्थासङ्गतिरिति वा-
च्यम् । "लिव्यस्यासस्योभयेषाम्" इति सूत्रे उभयेषां ग्रहणसामर्थ्येन अभ्यास-
लोपविषये उक्तवचनाप्रवृत्तेः ।

**प्रश्नः—‘विज्ञापना भर्तुषु सिद्धमेति’ ‘तज्ज्ञापयत्याचार्यः’ इत्यत्र
च “भितां हस्तः” इति कस्मान्न प्रवर्तते ।**

उच्चरम्—घटादौ मित्यप्रकरणे “मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा” इति पठितम् ।
तत्र निशामनं चाक्षुषज्ञानम् , इति माधवः । अन्ये तु ज्ञापनमात्रम् अर्थमाहुः ।
हरदत्तादयस्तु निशामन इत्यत्र निशानेज्जिति पेणुः । निशानेत्र तीक्ष्णीकरणम् ।
एष्वेवार्थेषु मित्वं नान्यत्रेत्यनेन नियम्यते । विज्ञापनेत्यत्र तज्ज्ञापयतीत्यत्र च अचा-
क्षुषज्ञानस्यैवात्मज्ञानस्य विवक्षितत्वात् मित्याभावान्माधवमते हस्तो न प्रवर्तते ।
बोधनमात्रे तु उक्तं रूपद्वयं ज्ञा नियोगे इति चौरादिकस्य बोध्यम् । धातुनामने-
कार्थत्वात् तस्य ज्ञापने वृत्तिः । 'नान्ये मितोऽहेतौ' इति निषेधान्न मित्यम् ।
निशानेज्जिति हरदत्तादीनां मते तु उक्तप्रयोगयोज्ञापनार्थवृत्तित्वात् ज्ञापनस्य च मा-
रणतोषणतीक्ष्णीकरणान्यत्वात् तस्मिन्नाथे ज्ञाधातोमित्यप्रसकिरेव नास्तीति दिक् ।

**प्रश्नः—“न कर्मयमित्यमाम्” इत्यता न उच्चरत्रज्ञुवर्तते नवेति
व्याख्येयम् ।**

उत्तरम्— स्वामी “न कम्यमिचमाम्” इति सूत्रात् शमो दर्शने हृत्यादि-
सूत्रत्रये नज्पदस्यानुवृत्तिं न करोतीति स्वामिमते—आयामयतोति उदाहरणे आ-
यमयतोति स्यात् । यमयतोति प्रत्युदाहरणे यामयति ब्राह्मणानिति स्यात् । एवम-
वस्त्वादयति परिस्खादयतीत्युदाहरणे अवस्खादयति परिस्खदयतीति स्यात् । प्रत्यु-
दाहरणे च प्रस्खादयतीति स्यात् । एवज्ञ पर्यवसितं नियमयन्निति प्रयोगः सा-
धुरेव । नज्पदानुवृत्तौ तु यमोऽपरिवेषणे “खदिरवपरिम्याङ्गा” इति सूत्रद्वये उदा-
हरणप्रत्युदाहरणयोर्यत्यासः । इदं च स्वामिमतं वृत्तिन्यासादिविरोधाद्यमेव ।

प्रश्नः—भ्राज्‌धातोहभयत्र पाठे का विशेष इति लिख ।

उत्तरम्— भ्राज्‌धातोः फणादौ पाठः “कणाङ्ग सप्तानाम्” इति सूत्रेण
एत्वाभ्यासलोपार्थः । पूर्वे पाठस्तु “ब्रश्चभ्रस्तु” इति सूत्रेण प्राप्तवस्य षट्वस्य नि-
षेधार्थः । तत्र हि राज्‌धातुः फणादिर्गृह्णाते, तत्साहचर्याच्च भ्राज्‌धातुरपि फणादिरेव
ग्राह्यः, इति पूर्वपठितभ्राजधातुविषये षट्वाभावः सिद्ध्यतीति दिक् ।

प्रश्नः—‘सस्वरिव’ इत्यत्रेडागमः केन भवतीति प्रदर्शय ।

उत्तरम्— “आधंधातुकस्येह्वलादेः” हृत्यादिविधिशास्त्रेभ्यः प्राक् “नेह्व-
शिकृति” “श्रयुकः किति” हृत्यादिसूत्राणां प्रकरणमाचार्येण कृतमिति तत्सामधर्येन
परमपि “स्वरतिसूति०” हृत्यादिसूत्रं बाधित्वा “श्रयुकः किति” इति निषेधः प्रा-
स्त्वत्तमपि बाधित्वा क्रादिनियमान्नित्यमिद् भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—‘प्रणिमयते’ इत्यत्र मारुपाभावात् णत्वं कथमिति ब्रत ।

उत्तरम्— ननु प्रणिमयत इत्यत्र “नेग्नदनद०” इति णत्वं न सम्भवति, शि-
द्धिषये आत्वाभाषेन मारुपाभावात् । तथा प्रणिमानशब्देऽपि णत्वं न सम्भवति,
तत्र मेषः कृतात्वस्य लाक्षणिकमारुपत्वात् । “गामादाग्रहणेऽवविशेषः” हृत्याश्रित्य
मेषेऽपि कृतात्वस्य णत्वविधौ ग्रहणे तु भीनातिमिनोत्योरात्वे प्रनिमातः
प्रनिमास्यति, हृत्यत्रापि नेणत्वापत्तिरिति चेद् । भृत्यते । “नेग्नदनद०” इति
णत्वविधौ शुमेत्यस्य स्थाने शुप्रकृतिमाङ्गिति पठित्वा तत्र प्रकृतिशब्दस्य शुमाङ्गप-
कृतिपरत्वमाभित्य वौ माध्याते शुमाङ्गप्रकृतौ च परतः हृति पर्यवसानमाभित्य
माप्रकृतेऽङ्गितो मेषधातोः कृतात्वस्यापि प्रहणस्य भाष्यकृता अभ्युपगतत्वाद् । एवज्ञ
प्रणिमयते हृत्यत्र नाव्यासिः, मेषः कृतात्वस्मप्रकृतित्वे सति डित्वात् । नापि मी-

नातिमिनोत्थोरात्वे प्रनिमाता प्रनिमास्थतोत्थन्न अतिथ्यासि:, मारुपस्थ छित्वा-
भावात् । एतच्च बुलंजासूत्रे भाष्ये स्थितम् ।

प्रह्लः—‘परिष्करणः’ इत्यन्न णत्वं भवति नवेति युक्तिगुकं प्रतिपादय ।

उक्तरम्—‘परिष्करणः’ हति स्थिते “अनिदिताम्” हति नलोपे “रदा-
भ्याम्” हति निष्ठातकारस्य तत्पूर्वदकारस्य च नत्वे सत्यानेन षष्ठ्यपक्षे प्रथमनका-
रस्य रेकापेक्षया भिन्नपदस्थत्वेऽपि षात् परत्वात् णत्वे द्वितीयवकारस्य दुर्ब्बेन
णत्वे ‘परिष्करणः’ हति रूपम् । ननु दकारस्थानिकृतकारस्य षष्ठ्यानिमित्तकं णत्व-
मन्तरझूम् , निमित्तनिमित्तिनोरेकपदस्थत्वात् । षष्ठ्यं तु परि इत्युपसर्गात्मकपदा-
न्तरस्थमिणं निमित्तीकृत्यं प्रवर्तमानं बहिरङ्गम् । ततश्च णत्वे कर्तवये बहिरङ्गस्य
षष्ठ्यस्थासिद्धत्वात् षात्परत्वाभावात् कथं णत्वमिति चेद् ? उच्यते । पदद्वयाभ्य-
तया बहिरङ्गस्य षष्ठ्यस्थासिद्धत्वं यत्प्रसक्तं तन्नाश्रीयते । “धातुपसर्गयोः कार्यम-
न्तरझूम्” इत्यस्म्युपगमात् । पूर्वं धातुरुपसर्गेण सह युज्यते-सन्ध्यादिकार्यं लभते ।
पश्चात्-धातूपसर्गकार्यप्रवृत्यनन्तरं साधनेन युज्यते । पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते,
पश्चादुपसर्गेण हति पक्षे तु षष्ठ्यस्य बहिरङ्गतया असिद्धत्वान्न णत्वमिति यावत् ।

प्रह्लः—‘विद्याय’ इत्यन्न परत्वात् हलादिशेषेण यकारलोपे सति
चकारस्य सम्प्रसारणं प्राप्तं तत्काया रीत्या वार्यते ।

उक्तरम्—व्येष्व धातोर्लिटि तिपि जलि व्ये अ हति स्थिते “अचो छिणति”
हति वृद्धौ ‘व्यै अ’ हति जाते, ननु तत्र द्वित्ये ‘लिटयभ्यासस्य’ इत्यभ्यासे यका-
रस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे उत्तरखण्डस्य आयादेषो ‘विद्याय’ हति रूपं भवति, तद-
युक्तम् , सम्प्रसारणात्प्राक् परत्वात् हलादिशेषेण यकारस्य निवृत्तौ वकारस्य सम्प्र-
सारणे उकरे सति ‘विद्याय’ इत्यापत्तेरिति चेद् । न । परमपि हलादिशेषं बाधि-
त्वा यस्य सम्प्रसारणम् , उभयेषां ग्रहणसामर्थ्यात् । अन्यथा वच्यादीनां प्रव्यादी-
नान्नानुवृत्त्यैव सिद्धे किन्तेन । हति भवादयः ।

अथादादयः ।

प्रह्लः—‘जाक्षतुः’ इत्यन्न स्थानिषद्ग्रावः कथं वारित हति लिख ।

उक्तरम्—ननु ‘जाक्षस् अतुस्’ हति स्थितौ “गमहनजनस्त्रवसाम्” इत्युप-
चालोपे तस्य “अक्षः परस्मिन् पूर्ववित्रौ” हति । वानिकस्त्वेन उद्यवधानात् खरपर-

त्वाऽभावाऽवर्त्वाऽप्राप्त्या जक्षुरिति न सिद्धयेदिति चेद् । उच्यते । “न पश्चात्-
द्विष्ठन०” इति सूत्रेण चत्वं प्रति स्थानिवत्वनिषेधात् सर्वमुपपञ्चमिति यावत् ।

प्रश्नः—‘जहि’ इत्यत्र “अतो हे:” इति हेर्लुक् कुतो नेति वद ।

उत्तरम्—ननु हन्तेजोटि मध्यमपुरुषैकवचने ही तस्मिन् परे “हन्तेर्जः”
इत्यनेन हन्तेजोटिशे “अतो हे:” इति हेर्लुक् दुर्वार हति चेद् । उच्यते—“असिद्ध-
वदप्राभात्” इत्यनेन आभीयतया जन्मासिद्धत्वाद्देहं लुक् ।

प्रश्नः—‘ब्रह्मिङ्’ इत्यत्र डिःत्वादेवात्मनेपदे सिद्धे इकारोऽत्रात्मणं
किमर्थमिति ब्रूत ।

उत्तरम्—ननु चक्षिद् इत्यत्र इकारोच्चारणं धर्यथम् । न च सुखोच्चारणार्थं
तदिति वाच्यम्, अकारोच्चारणेनैव तसिद्धेः । नाथनुदात्तेत्वप्रयुक्तात्मनेपदार्थं
तदिति शक्यं वक्तुम्, छित्वादेव तत्सिद्धेरिति चेद् ? न । “अनुदात्तेत्वं हलादेः”
इति खलुडपवादयुच्चप्रत्ययार्थत्वात् । ततश्च ‘विचक्षणः’ इति प्रयोगः सिद्धयति,
नुम् तु न भवति । यथा धातौ इकारोऽन्तावश्वत्रो भवति तत्रैव “हृदितो नुम् धा-
तोः” इत्यनेन नुमभवतीति व्याख्यानात् । पवच्छ इकारस्यानुदात्तत्वात् “अनुदात्त-
छित आत्मनेपदम्” इत्यनेनानुदात्तेत्वनिमित्के आत्मनेपदे सिद्धे इकारोपादानं व्य-
र्थमेव । तदेव व्यर्थं सत ‘अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्’ इति ज्ञापयति ।
तेन स्फायन्निति प्रयोगे शतप्रत्ययस्य सिद्धिरिति दिक् ।

प्रश्नः—‘मन्त्र भाव्ये खूशादिरयमादेशः’ इयं फक्तिकक्षा दयाख्येया ।

उत्तरम्—अत्रेदं तात्पर्यम्—‘चक्षिडः खूशाम्’ इत्यनेन न चक्षिडः खूशामा-
देशः, किन्तु खूशाज्ञादेश एव, तेन पुरुख्यानमित्यत्र न “पुमः खण्डपरे” इति रूत्व-
मित्यादि इल्लसन्धावेवोक्तम् । असिद्धकाण्डे “शस्व यो वा” इति लिथतम् इति
तेन णात्वप्रकरणानन्तरमिति शेषः । अत एव शकारेण वशवधानात् “कृत्यवः”
इत्यनेन पर्याख्यानमित्यत्र णात्वम् । नापि सुपर्खेन निर्वृत्तं सौप्रख्यम्, तत्र भवः
सौप्रख्यीयः इत्यत्र यत्वासिद्धत्वेन “धन्वयोपधाद्” इति दुम्, किञ्चु छत्रत्यय
एवेति दिक् ।

प्रश्नः—‘युयात्’ इत्यत्र “उतो वृद्धिलुकिं हलि” इति वृद्धिः कुतो
नेति वद ।

उत्तरम्—ननु लिङ्गानिकाशेषात्य तिरः वित्वात्मय च “यदागमः”परि-

भाषया यासुट्विशिष्टे सत्वात्तस्मिन् “उतो वृद्धिर्लुकि” इत्यनेन वृद्धिर्दुर्बारेत्यतः
उच्यते—हह उतो वृद्धिने, ‘भाष्ये पिच्छ छिन्न छिन्न पिच्छ’ हति व्याख्यानात् । “सा-
र्दधातुकमपित्” इत्यस्यावृत्याऽस्य लाभः । न च पूर्ववाक्येन छित्वमपि दुर्लभमिति
वाच्यम् । विशेषविहितेन छित्वेन पित्वस्य बाधादित्यलम् ।

प्रश्नः—‘अभीयात्’ इत्यत्र “पतेर्लिङ्गि” इति हस्यः कुतो नेति वद ।

उत्तरम्—ननु पूर्वान्तवद्वावेनोपसर्गत्वं परादिवद्वावेन च धातुर्त्वं वर्तते ए-
वेति “पतेर्लिङ्गि” इत्यनेनोपसर्गत्परस्येणोऽग्ने इत्यविधानात् ‘अभीयात्’ इत्य-
त्रापि हस्यो दुवारं हति चेद् । न । “उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्” इति वचनेन
निषेधात् । यथा द्वयोरेकः प्रेष्यस्ताभ्यां युगपद्विनिदेशकायै प्रेरितोऽविरोधार्थी न
कस्यापि करोति कार्यनद्वृत् पूर्वपरशब्दाभ्यामन्तादिशब्दाभ्याज्ञ विरोधस्य स्फुट-
त्वाद्विरुद्धातिदेशस्य युगपदसम्भव हति तात्पर्यम् । नैतद्विषये स्थानिवद्वावप्रवृत्तिः,
आनुमानिकस्थान्यादेशभावे विशिष्टस्य स्थानित्वेऽपि प्रत्येकं तयोः स्थानित्वे मा-
नाऽभावात् वर्णयोरेव श्रीतस्थान्यादेशभावविधानाच्चेति दिक् ।

प्रश्नः—‘अध्ययै’ इति यथाशास्त्रं साधय ।

उत्तरम्—ननु पूर्वं धातुरसगेण युज्यते पश्चात्साधनेनेत्यभियुक्तोक्त्या अ-
न्तरङ्गत्वाद्गुणादेः प्रागेव सर्वांगीष्ठे यणि ‘अध्ययै’ हति न स्यादिति चेद् । उच्च-
ते । ‘पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसगेण’ हति पक्षस्य “सुट्कात्पूर्वः” इत्य-
त्र भाष्ये सिद्धान्ततत्वात् पूर्वं गुणायादेशयोः कृतयोषपसर्गस्य यण् । ‘पूर्वं धातुर-
पसगेण युज्यते’ हति मते तु धातुपसर्गयोः कार्यं पूर्वं स्यादिति अन्तरङ्गत्वात्प्राप्तो
दीर्घो “णेरध्ययने वृत्तम्” हति सब्रे ‘अध्ययने’ हति पदनिदेशान्न भवति । यदि
पूर्वं दीर्घः स्यात्तदोक्तप्रयोगनिदेशोऽनुपपञ्चः स्यात् ।

प्रश्नः—“मयं सार्वधातुकमात्रविषयः” इत्यस्याशावः स्फुटं वर्णनीयः ।

उत्तरम्—अस्य रुयाधातोः सार्वधातुक एव प्रयोगो नत्वार्धधातुके इत्यर्थः ।
अत्र च ‘सस्थान्तत्वं नमः रुयात्रे’ हति वातिकं नममध्याहृत्य ‘नमः रुयात्रे’ इत्यत्र
सस्थान्तत्वं जिह्वामूलीयत्वं न भवतीति व्याख्यानरूपं भाष्यज्ञ प्रमाणम् । अत्र
हि चक्षिणः रुयाजादेशे शस्य यकारे शकारस्थानिकयत्वस्यासिद्धत्वात् ‘शपेरे वि-
सर्जनीयः’ इष्टो विसर्जनीयः सिध्यति, जिह्वामूलीयत्वनिष्ठो न भवतीति भाष्य-
वातिकहृदयम् । अस्य रुयाधातोरार्धपातुकेऽपि योगसम्बे तु तृज्ञते रुयातृशब्दे

यकारस्य शकारस्थानिकत्वाभावात् असिद्धत्वाभावात् “शर्षेर विसर्जनीयः” इत्य-
स्याप्रवृत्तौ “कुप्वोः” इति जिह्वामूलीयो दुर्वारः स्यात् । ततश्चार्धधातुके ख्याधा-
तोर्न प्रयोगः इति विज्ञापयते । ज्ञापकल्य सामान्यापेक्षत्वादिति दिक् ।

**प्रश्नः—दरिद्राधातोर्लिंगि प्रथमपुरुषैकवचने ऋणिग्नि विविच्य
प्रसाधयत ।**

उत्तरम्—दरिद्राधातोर्लिंगि दरिद्राधाकार, ददरिद्रौ ददरिद्र इति रूपब्रह्मसुक्तं
ग्रन्थकृता । तत्रायां द्वयं न्याययं तृतीयन्तवन्याययम् । “कासप्रत्ययादाममन्त्रे लिंगि”
इति सूत्रभाष्ये दरिद्राधातोराम उक्तत्वात् ‘दरिद्राधाकार’ इति न्याययम् । “आ-
त औ णलः” इत्यत्र प्रथमातिक्रमे कारणाभावात् ओकार एव विधातुमुचितः ।
वृद्धौ सत्यां तावतैव ‘यथौ’ इत्यादिसिद्धेः । तस्मादौकारविधानं दरिद्राधातोर्णिं
‘दरिद्रातेरार्धधातुके लोपो वक्तव्यः’ इत्यालोपे ‘ददरिद्रौ’ इत्योकारश्ववणार्थं सम्प-
द्यते । ओकारविधाने तु आलोपे मति वृद्धेरसम्भवात् ददरिद्रौ इत्योकार एव श्रू-
यते । अत एव लिंगि आम्नेति विज्ञायते । आमि सति णल एवाप्रसक्तेः । इति
“वस्वेकाजातूघसामू” इति सूत्रभाष्ये भवनितं कैयेठेन च स्पष्टीकृतम् । अतो द्वि-
तीयं ददरिद्रौ इत्यपि न्याययम् । तृतीयन्तु उत्तरामन्याययमिति दिक् ।

इत्यदादयः ।

अथ जुहोत्यादयः ।

**प्रश्नः—‘ऐयः’ इति ऋणं प्रसाध्य ‘धत्तः’ एतत् शङ्कानिरासपू-
र्वकं साधय ।**

उत्तरम्—ऋधातोर्लिंगि तिपि सार्वधातुकसंज्ञायां “कर्तरि शप्” इति शपि,
“जुहोत्यादिभ्यः इलौः” इति इलौ “इलौ” इति धातोर्द्वित्वे “डरत” इति अभ्या-
सस्य नकारस्याकारे रपे “हलादिः शेषः” इति लोपे “अर्तिपिपत्योश्च” इति
अभ्यासस्याकारस्येत्वे “अभ्यासस्यासवणें” इतीयङ्गि “माडजादीनाम्” इत्यादि
“आटक्च” इति वृद्धौ “सार्वधातुकार्धधातुकयोः” इति गुणे “इतश्च” इतीकार-
लोपे “हलूङ्याभ्यः” इति तकारस्य लोपे रेफस्य विसर्गे च रूपम् ।

धत्तः—धाधातोर्लिंगि तसि सार्वधातुकसंज्ञायां “कर्तरि शप्” इति शपि
“जुहोत्यादिभ्यः इलौः” इति इलौ “इलौ” इति धातोर्द्वित्वे पूर्वस्य अभ्यास-

संज्ञार्थो “हस्तः” हति हस्ते “अभ्यासे चर्चं” हति धकारस्य दकारे “दुभे अभ्य-स्तम्” हति अभ्यस्तसंज्ञार्थो “इनाभ्यस्तयोरातः” हति आकारस्य लोपे “दधस्त-थोदधः” हति भष्मावे “लरि च” हति चत्वें सकारस्य हस्ते विसर्गे च रूपम् । न चाच्र “अचः परस्मिन् पूर्वविधौ” हति सुत्रेण आकारस्य स्थानिवद्वावेन इष्वन्त-त्वाभावाद् भष्मावो न स्थादिति वाच्यम् । अत्र भष्मावे कर्तव्ये आलोपो न स्थानिवत्, सूत्रारम्भसामर्थ्याद् । वस्तुतस्तु “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” हति परिभाषया त्रिपादित्ये भष्मावे कर्तव्ये सपादससाधयायीस्थाकारलोपस्य स्थानिव-त्वनिषेधात् । परिभाषारूपयुक्त्या कार्यनिवाहे सति वचनारम्भाध्ययन्निष्फलमिति दिक् ।

हति ज्ञाहोत्यादयः ।

अथ दिवादयः ।

प्रश्नः—‘अदिलक्षत्’ हति रूपं शङ्कासमाधिपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—दिलषु धातोर्लुडि तिपि “डिल लुडि” हति छौ पुषादित्वादिडि प्राप्ते “निरवकाशो विधिरपवादः” हति वचनेन अपवादस्त्वात् “दिलषः” हति सू-त्रेण कसे अनुशब्दलोपे “षटोः कसिः” हति वस्त्य कर्त्वे कात्परकत्वात् वत्वे अटि च ‘अदिलक्षत्’ हति रूपम् ।

न च “चिण् भावकर्मणोः” हति सुत्रेण प्रापस्य चिणोऽपि “दिलषः” हति सुत्रेण बाधः स्यादिति वाच्यम् । “पुरुषतादपवादग्न्यायेन पुषाद्यहं पृथ बाधकत्वा-त् । एवज्ञ “दिलषः” हति सुत्रेणाऽलिङ्गनरूपधात्वर्थं कसे सिद्धे “आलिङ्गने” हति योगविभागेन शिष्यधातोरालिङ्गनेऽर्थं एव कसो नान्यत्रेति नियम्यते । तथाच यदि “शल इगुपवादनिः कसः” हति सूत्रावहितस्य कसस्य “आलिङ्गने” हत्यनेन नि-यमो न स्यात्तदा पुरीषीयोगविभागो व्यर्थं एव, व्यर्थं सन् “शल” हस्त्यादिसूत्र-विहितस्यापि कसस्य नियमं करोति । ततद्वानालिङ्गने ‘समशिलषउज्जतु काष्ठम्’ हस्त्यत्राङ् । कर्मणि प्रत्यये तु चिण् सिद्धयतीति दिक् ।

प्रश्नः—जिमिदा स्नेहने धातोर्दिवादौ पाठः किमर्थः ।

उत्तरम्—स्नादौ श्रुतादिगणे पाठेनैव अमिश्व अमेदिष्ट, हति रूपदूषयिद्वौ दिवादिगणे पाठोऽमेदीदिति रूपनिवारणार्थः । हत्यज्ञ गणदूषे, पाठेन यदि रूपदूष-सिद्धिरेवेष्टा तदा श्रुतादिस्तः पृथगात्मनेष्टिषु भवादौ पाठेनामेदिष्टेति रूपम् ।

उषाहौ दिवादिगणे पाठेन च अमिददिति रूपञ्च सिद्धमवतीति श्रुतादिमणे पाठे निष्फल पुरेति प्रतिभाति । इति दिवादयः ।

अथ तुदादयः ।

प्रश्नः—‘विव्यच’ इत्यत्र सम्प्रसारणं कुते नेति वद ।

उत्तरम्—‘व्यचेः कुटादित्वमनसि’ इति वार्तिकं यत्रालिभवः अस्सहशः कृदन्तीयप्रत्ययः स्यात्तत्रैव लगति । यथा—‘अब्राह्मणमानय’ इत्युक्तौ ब्राह्मणभिन्नं ब्राह्मणसहशी कञ्चननरमानीय कृती भवति न तु लोहकाष्टादिकम् , तद्वत् । तेन ‘उ-द्विचितुम्’ इत्यादिकृदन्तत्व्येण कुटादित्वेन “गाङ्गुयादिभ्योऽङ्गिङ्गित्” इति छित्वेन “प्राहृज्यावयिं” इत्यादिना सम्प्रसारणं सिद्धयति । विव्यचेत्यत्र तु तिङ्गन्तत्वेन गित्वा भावपक्षे वार्तिकाप्रवृत्या सम्प्रसारणाभावः । अन्यथा तत्रावि सम्प्रसारणं स्यात् । साहशयञ्च कृदन्तत्वेन ग्राह्यम् ।

प्रश्नः—‘शे तृम्फादीनां नुम् वाच्यः’ अस्यार्थः करणीयः ।

उत्तरम्—“शे तृम्फादीनाम्” इति वार्तिके आदिशब्दः प्रकाररूपार्थत्व वाचकः । तथा तृम्फलहशानां धातुनां नुम् स्यादित्यर्थो भवति । साहशयञ्च नकार-युक्तत्वेन गृह्यते । एवं हि नकारर्हिततृफादिधातुषु नुम्न भवतीत्यलम् ।

प्रश्नः—‘ममडूक्थ’ इति सम्यक् साधय ।

उत्तरम्—मस्जधातोर्लेटि सिपि “परलमैपदानाम्” इत्यादिना थलि, “लि-टि धातोः” इति द्वित्ते पूर्वस्याभ्याससंज्ञार्था “हृकादिः शेषः” इति लोपे इडभाव-पक्षे “मलिजनशोर्षलिः” इति “मल्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः” इति वचनेन जकारात्पूर्वं नुमि “स्कोः संयोगाद्योरन्ते च” इत्यादिना सकारलोपे “चोः कुः” इति कुत्वे चत्वें नकारस्यानुस्वारे परस्वणें च कृते रूपम् । इति तुदादयः ।

अथ तनादयः ।

प्रश्नः—‘सञ्चस्करतु’ अस्य सिद्धिं शङ्कासमाधिपूर्वकं प्रदर्शय ‘सञ्चस्करिथ’ इत्यत्र इडागमः कथमिति प्रदर्शनीयः ।

उत्तरम्—सम्पूर्वात्कृधातोः ‘पूर्वं धातुरुगसगेण युज्यते’ इति सिद्धान्तमा-धित्य ‘धातुपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्’ इति पूर्वं “सम्परिभ्यां कारोतौ भूषणे” इति

षटि संस्कृ हत्यस्मालिलटस्तसोऽतुसि स्कृ हत्यस्य द्वित्वे उरदत्वे रपरत्वे “शर्पूर्वाः
खयः” इति रेफसकारयेनिवृत्तौ अभ्यासचुत्वे “ऋतश्च संयोगादेगुणः” इति गुणे
‘सञ्चास्त्वकरतुः’ इति रूपसिद्धेः । “कात्पूर्वः” “अडम्यासव्यवायेऽपि” इति च न
कर्तव्यमिति भाव्यकाराशयः ।

एवं समस्तकरोदित्यन्नापि विकरणान्ताङ्गभक्ताडागमापेक्षया अन्तरङ्गत्वात्प्रथमं
सुदृ भविष्यतीति कृत्वा ‘अडम्यवायेऽपि’ हत्यंशो न कर्तव्य इति दिक् ।

ननु सञ्चालकरित्व सञ्चालकरित्व हत्यत्र च “कृसुभृत्” इति “ऋतो भारद्वाजस्य”
इति च हृषिनषेधः स्यादिति चेद् ? न । “कृसुभृत्” हत्यत्र “ऋतो भारद्वाजस्य”
हत्यत्र च “कृत्रोऽसुट्” इति वक्तव्यम्” इति वार्तिकस्य जाग्रत्वात् ।

प्रश्नः—‘संस्क्रियात्’ अस्य सिद्धिः प्रदर्शनोया ।

उच्चरम्—सम्पूर्वात्कृधातोः “पूर्वं धातुरुपसगेण युज्यते” इति सिद्धान्तमा-
श्रित्यान्तरङ्गत्वात्पूर्वं सुटि तत आशीलिङ्गं तिपि याइडागमे “रिङ्गशय” इति
ऋकारस्य रिङ्गादेशे याइटः सकारस्य “स्कोः” इति लोपे संस्क्रियादिति रूपम् ।
न चात्र लक्षारोपदेशकाले धातोः संयोगादित्वात् “गुणोर्तिसंयोगाद्योः” इति गुणः
कुतो नेति वाच्यम् । अत्र सूत्रे “पूर्वं सुयो विहितत्वेन “नित्यं छन्दसि” हत्यतो
नित्यमित्यनुवर्तते । तेन नित्यं संयोगादि—धातुरुपदेश काले यः संयोगादिः हत्य-
र्थाद् गुणाप्रवृत्तेः । इति तनादयः ।

अथ क्रथादयः ।

प्रश्नः—‘बन्धान्धाम्’ इति रूपं शङ्कानिरासपूर्वकं विधेयम् ।

उच्चरम्—बन्धधातोर्लुङ्गि तसि “तस्थस्” हत्यादिता तामि, “चिङ्ग लुङ्गि”
इति च्छ्लौ “च्छ्ले: सिच्” इति सिजादेशे अटि “पूर्वासिद्धम्” इति भद्रभावा-
त्पूर्वस्मिन् सिज्जोपे “क्षषपस्तथोधींधः” इति धकारे “अतो हलादेल्घोः” इति
वृद्धौ नक्षोपे जश्त्वे च रूपम् । चात्र “एकाचो बशो भय् क्षषन्तस्य स्त्वोः”
इति भय् भावः स्यादिति वाच्यम् । “पूर्वासिद्धम्” इति शास्त्रेण भद्रभावविधा-
यकस्यासिद्धत्वेन सिज्जोपात्सकाराभावात् । न च प्रत्ययलक्षणेन पुनरपि भद्रभाव
इति वाच्यम् । “प्रत्ययलोप” इति सूत्रम्प्रति सिज्जोपस्यासिद्धत्वात् ।

प्रश्नः—‘प्रविता’ अस्य सिद्धिः प्रदर्शनोया ।

उत्तरम्—इषधातोर्लुटि ‘एष् ता’ इति स्थिते, न चात्र “तीषसह” इति सूक्ष्म विकल्पेनेट् स्थादिति वाच्यम् । अकारविशिष्टसहातुसाहवयेण अकारयुक्त-स्थैर्येष्वैर्ग्रहणात् । इषेत्कारे इयनप्रत्ययात्प्रतिषेधः, इति वातिकब्लेन यत्र इयनप्रत्ययः स्थात्रैषेष्वैः पाक्षिकस्थेयोऽभावः स्थात् । एव आत्र इद्विकल्पेन रूपद्वयं निर्बाधमेव भवतीति दिक् । इति क्रादयः ।

अथ चुरादयः ।

प्रश्नः—चितिधातोरिदिकरणस्य णिचः पाक्षिकत्वे ज्ञापकत्वम्, मतभेदेन विशेषापेक्षसामान्यापेक्षत्वयोः प्रमाणञ्च फलप्रदर्शनपुरःसरं सोपपत्तिकं निरूपणीयम् ।

उत्तरम्—ननु चितिधातौ इदित्करणं मास्तु, प्रक्रियालाघवात् ‘चिन्त स्मृत्याम्’ इत्येवोच्यताम् । न च नलोपनिवृत्यर्थमिदित्वमिति वाच्यम्, चिन्तयतीत्यादौ णिचः किं त्वाभावादेव नलोपस्थाप्रसक्तेः । न च णिजभावे आशोर्लिङ्गे चिन्तयादिति, कर्मणि लक्षकरे यकि सति चिन्त्येत इत्यत्र च नलोपनिवृत्यर्थमिदित्वमिति शङ्खयम् । ‘चुरादिगिचो नित्यत्वेन णिचं विना केवलात् चिन्त्यात् चिन्त्येत, इति प्रयोगस्य असम्भवादिति चेद् ? उच्यते—अत्रत्यमिदित्करणं णिचः पाक्षिकत्वे लिङ्गम् । एवं हि कदाचिद् चिन्त्यात् चिन्त्येत इति प्रयोगस्य सत्वात् तत्र नलोपनिवृत्यर्थमिदित्करणमिति स्वांशे चरितार्थम् । फलञ्च—चिन्तति चिन्तेत् इत्यादिप्रयोगोपपत्तिः । इदं हि ज्ञापकं चुरादित्वसामान्यापेक्षमिति वृत्तिकारादयः । तेन जगाण, जगणतुः इत्यादीनां सिद्धिः । ज्ञापकस्य चितिधातुमात्रविषयक्त्वे चौरादिकस्य गणधातोर्जगाण, जगणतुः इत्याशुद्धाहरणानुपपत्तिः स्थात् । न चैवम् ‘आधृषाद्वा’ इति व्यर्थमिति वाच्यम् । ज्ञापकसिद्धस्यासार्वत्रिकत्वात् ।

केचिच्चु सर्वस्यावि चुरादेर्जिज्वकल्पे सति “आधृषाद्वा” इति कतिपयचुराद्यन्तगणपदितानां णिज्वकल्पविधेवैर्यथर्माशङ्क्य ज्ञापकं चिति धातुमात्रविषयकमाहुः । अस्मिन्नेव पक्षे ग्रन्थकात्य सम्मतिरित्यलम् ।

प्रश्नः—चुरादौ पृधातोः दीर्घेष्वारणस्य फलमुच्यताम् ।

उत्तरम्—नन्वय धातुर्हृष्वान्त एव निर्दिष्यतां तावतैव पर्यतोत्यादिसिद्धेः । न च णिजभावपक्षे परिता परिष्यतीत्यत्र इदर्थं दीर्घेष्वारणम् । क्रदृष्टत्वेऽनिट्क-

त्वप्रसङ्गादिति वाच्यम् । चुरादिणिचो निष्टव्येन ततो णिजभावस्यात्यन्तमसम्भवादिति प्रष्टुराशयः । उत्तरणित्यव्यमाशयः—पूर्धातोरीघ्नीच्चारणमिडर्थम्, इत्यान्तत्वे “अद्रक्षदन्तैः” इत्यनिट्कारिकासु क्रदन्तस्य पर्युदासेन क्रदन्तस्यानिट्कत्वा वगमादिन स्यात् । तच्च तदैवं सार्थकं भवेत्, यदाइस्माद्वातोणिचो विकलपः स्यात्, अन्यथा पारीति णिजन्तस्य धात्वन्तरत्वात्सेट्कत्वे किं तेन । पव्वश दीर्घोच्चारणं णिचः पाक्षिकत्वे लिङ्गम् । तेन पृष्णातिविपर्तिम्यां ‘परिता’ इत्यादिसिद्धावपि पारयति, परति इत्यादिसिद्धिक्ष दीर्घोच्चारणस्य फलम् ।

प्रश्नः—‘अचीकृतत्’ इति रूपं साधय ।

उत्तरम्—कृतधातोशुरादित्वात् णिचि तस्माक्षुङ्गि तिपि अटि छलौ “णिश्चुच्चुम्यः” इति चहि “उपधायाश्च” इतोत्वं बाधित्वा “उत्त्रत्” इति पाक्षिके ऋकारादेशो “चहि” इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्याससंज्ञायाम् “उत्तर” इत्यत्वे रपरे “हुलादिः शेषः” इति लोपे “सन्वलप्तुनि” इत्यादिना सन्वद्धावे “सन्यतः” इतीकारोपे रुपम् । ऋकारादेशामावे तु “उपधायाश्च” इतीत्वे रपरे कीर्तशब्ददस्य द्वित्वे अभ्यासकाये ‘अचीकीर्तत्’ इति रूपम् ।

प्रश्नः—‘ओः पुयण्जपरे’ इति सूत्रे वर्गप्रत्याहारजग्रहो लिङ्गमिति फक्तिका विशदं व्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—“ओः पुयण्जपरे” इति सूत्रस्य पिपावयिषति विभावयिषति यिवावयिषति रिरावयिषति लिकावयिषति, जिजावयिषति इत्युहारणेषु द्वित्वप्रस्त्यनिमित्ते णिचि “द्विर्वचनेऽचि” इति निवेदाऽप्रवृत्या द्वित्वात्प्रागेव परत्वाद्वृष्ट्यावादेशयोः कृतयोरभ्यासेष्वाकारस्य हृस्वे सति “सन्यतः” द्वल्येषेत्वसिद्धेः पर्वगयग्रप्रत्याहारजकारप्रहृणं व्यर्थम् । ओः पययोरपरयोरित्येव सूत्रमस्तु । पिपावयिषति यिवावयिषतीत्यग्रोक्तरीत्या “सन्यत” इतीत्वसिद्धावपि पिपविषति यियविशीस्यन्त्र पूर्धातोर्युधातोश्चाण्यन्तात् सनि अभ्यासे इत्वार्थं सदावद्यक्त्वात् । वर्गप्रत्याहारजकारप्रहणन्तु उर्थमेव, पव्वश तदुक्तायेऽक्षापकम् । ‘णिज्यष्व आदेशो न स्यात् द्वित्वे कर्तव्ये’ ज्ञापितेऽस्मिन्नन्तें विभावयिषतीत्यादिषु णिचि लुप्ते सति “चहि” इति द्वित्वे काये प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य णिचि गुणावादेशयोः प्रतिषेधे सति उक्तानां द्वित्वेऽभ्यासेऽकाराभावं न ‘सन्यतः’ इत्यस्याप्रवृत्या वर्गप्रत्याहारज-

कारप्रहणं स्वांशे चरितार्थम् । ज्ञापनफलन्तु—तुतावयिषति, अतूतवत्, ऊर्णुनाव-
यिषति, आर्णुनवत्, पुस्फारयिषति, अपुस्फरदिति ।

प्रश्नः—‘आौननत्’ इति रूपं सशङ्कासमाधि साधनीयम् ।

ननु उनधातोणिचि धातुत्वात्लुडि तिपि छलौ “गिश्रिं” हृत्यादिना चडि
आडागमे ‘आ उन ह अ त’ इति स्थिते—यियवयिषति पिपविषते इति प्रयोगद्वये
इटि सति “द्विर्वचनेऽचिं” इति निषेधेन पूर्वं द्वित्वेऽभ्यासेऽकाराभावेनेत्वं दुर्लभं स्या-
दिति तत्र इकारलाभार्थम् “ओः पययोः” इत्येव सूक्ष्रियतव्ये वर्गप्रत्याहारजकार-
ग्रहणं ड्यर्थीभूय ‘णिचि अच आदेशो न स्थाद् द्वित्वे कर्तव्ये’ इति ज्ञापयति । तेन
“आ उन ह अ त” इत्येव उक्त ज्ञापनेन पूर्वं द्वित्वे ततोऽतो लोपे वृद्धो च ‘आौन-
नत्’ इति रूपं सिद्धयति । अन्यथा प्रथममकारलोपे ततो णिशब्दद्वय द्वित्वे, औनि-
नत् इति रूपापत्तिः । अबीभवत् हृत्यादौ परिनिष्ठिते रूपे औननव इत्यप्त्र च सा-
धनदशायां द्वित्वस्योत्तरखण्डेऽकारलाभेन ज्ञापकस्य सजातीयापेक्षत्वाच्यत्र द्विरुक्ता-
दुत्तरखण्डेऽवर्णो लभ्यते, तत्रैव परिभाषा लगति । एवं हि अचिकीर्तेदिति रूपं सि-
द्धमभवति । अन्यथा तत्रापि परिभाषाप्रवृत्तौ तु पूर्वं कृतशब्दद्वय द्वित्वे उक्तरूपा-
सिद्धिः । परिभाषाया अप्रवृत्तौ तु पूर्वम् “उपधायाश्च” इति सूत्रेणेत्वे ततो द्वि-
त्वादौ उक्तरूपसिद्धिः सुलभा ।

प्रश्नः—आख्यानान्त्कृतस्तदाचष्टे कृलुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृ-
तिवच्च कारकमित्यस्यार्थं प्रदद्यत् उदाहरणे योजयत ।

उत्तरम्—आख्यायत हृत्याख्याने तद्वाचकात्, तत्—द्वितीयान्तात् कृतः—
कृतप्रत्ययान्तात् “कृदृग्यहो गतिकारकपूर्वत्यापि ग्रहणम्” इति परिभाषया कंसव-
धादेवपि कृदन्तत्वम्, आचष्टे इत्यर्थं णिच् स्यात् । कृलुक्—कृतप्रत्ययस्य लुक्,
प्रकृतिप्रत्यापत्तिः—तस्यैव कृतः या प्रकृतिः हनादिधातुरूपा, तस्याः प्रत्यापत्तिः—
आदेशादिविकारपरित्यागेन स्वरूपेणावस्थानमभवतीत्यर्थः । कारकश्च—चातका-
र्यम्, देतुमणिचः प्रकृतेहन्यादेहेतुमणौ यादृशी कारकं धातावन्तर्भूते द्वितीयान्तं
याहशश्च कार्यं कुत्वत्तत्वादि तदिहापीत्यर्थः । कंसवधमाचष्टे कंसं घातयतीत्युदाह-
रणम् । हननं वधः “हनश्च वधः” इति भावे हनूधातोरप्रत्ययः प्रकृतेवधादेशश्च ।
कंसस्य वधः कंसवधः, तमाचष्टे इत्यर्थेण णिच् । अप्रप्रत्ययस्य कृतो लुक् प्रकृतिभू-
तस्य हनूधातोर्धधादेशस्य च निवृत्तौ ‘कंसं हन् ह’ इति स्थिते कुत्वत्तत्वादिकार्यं च
वक्तं रूपम् ।

प्रश्नः—‘कंसमजीघतत्’ इति रूपं साधय ।

उत्तरम्—कंसवधमाच्छेद्य इत्थयें कंसवधशब्दात् गिबि, तत्सात् लुडि तिपि च्छेश्विलि “आख्यानात् कृतस्तदाच्छेदे कृलुक्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम्” इति कंसं हनु इति जाते “बङ्गि” इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्याससंज्ञायां “हुलादिः शेषः” इति लोपे “कुहोऽन्तुः” इति चुस्ते “हनस्तोऽचिणिलोः” इति तकारेऽन्तादेशे “हो हन्ते” इति हकारस्य घकारे अटि सन्वद्धावे “सन्यतः” इतीत्वे “दीर्घो लघोः” इति दीर्घे “हतश्च” इतीकारलोपे च रूपम् । ननु कंसवधशब्दाद् गिबि कृते कंसवधशब्दस्याङ्गसंज्ञा धातुसंज्ञा च भवति, ततः कंसवधशब्दात्पूर्वमङ्गागमः कंसशब्दस्य द्वित्वज्ञ भवितुमर्हति । किञ्च ‘धातोः स्वरूपग्रहणे ततप्रत्यय कार्यविज्ञानम्’ इति परिभास्या कुत्वत्त्वे न भवतस्तज्ज, प्रकृतिवच्चेति चकारो भिन्नक्रमः कारकं चात्कार्यम्, हेतुमणिचः प्रकृतेर्द्वन्यादेहेतुमणौ याहशं कारकं धातावनवत्तभूते द्वितीयानन्तं यादृशञ्च कार्यं कुत्वत्त्वादितदिहापीत्यर्थात् । अत्र “हनश्च वधः” इति अप् प्रत्ययो वधादेशवचेति दिक् । इति चुरादयः ।

अथ एयन्तप्रक्रिया ।

प्रश्नः—‘नचाग्लोपित्वाद्बृद्धयोरप्यसम्भवः, एयाकृतिनिर्देशात्’ इयं फक्किकाप्रश्नयेया ।

उत्तरम्—णिच्चत्वावच्छिन्नसकलणिद्यप्रत्यये परे यत्राग्लोपिनो धातवः स्युस्तत्रैव “नारलोपि” इत्यादिना उपधाहस्वनिषेधः सन्वद्धावनिषेधश्च भवति । तेन चेरिधातोः हेतुमणिचि एकस्मिन् णिच्चपरे पृक्षस्य णिच्चप्रत्ययस्य लोपेऽपि उपधाहस्त्वो दीर्घवच्च सिद्धयति । इत्यज्ञ यत्र णिप्रत्यये परे णिप्रत्ययादन्यस्याको लोपस्तत्रैव निषेधविषयकं सर्वं कार्यमभवति । अत्र तु णिप्रत्ययस्यैव लोपो न तु तदन्यस्येति ।

प्रश्नः—‘बहिरङ्गोऽप्युपधाहस्त्वे द्वित्वात्प्रागेव, ओणेऽर्नदित्करणालिङ्गात् । मा भवान् ब्रेदिधत्’ इयं फक्किकाप्रश्नयेया ।

उत्तरम्—‘ओण् अपनयने’ इति धातोः ऋदित्करणम् औणिणिदित्यत्र “नारलोपि” इति उपधाहस्वप्रतिषेधार्थम् । यदि तु उपधाहस्वत्प्रागेव अन्तरङ्गत्वात् द्वित्वं स्यात् तदा ‘ओण् ह अ त्’ इत्यत्र “अजादेद्वितीयस्य” इति णि इत्यस्य णिचा सह द्वित्वे सति पइचादोकास्त्र चह्परे णैः उपधात्वाभावादेव हस्वस्याप्रस-

क्त्वात् कृदित्करणं व्यर्थं स्यात् । द्वित्वात्प्रागेत्र उपधाहस्व इत्यस्तुपगमे तु ‘ओण् ह अ त्’ इत्यस्यामवस्थायां प्रासल्य दृस्वस्य निषेधार्थमृदित्करणमर्थेवत् । अतो बहिरङ्गोऽप्युपधाहस्वो द्वित्वात् प्रागेवेति विज्ञायते ।

ननु आटिटृ आशिशत् इत्यत्र द्वित्वप्रवृत्यनन्तरमुपधाहस्वस्याभावेऽपि “आ-टद्वच्” इति वृद्धौ आटिटृ, आशिशत्, इति सिद्धयत्येवेति किमनेन ज्ञापनेनेति चेद्—उच्यते । ‘एध् ह अ त्’ इति स्थिते पूर्वे द्वित्वप्रवृत्तौ धि इत्यस्य द्वित्वे प-वचादेकारस्य हस्वे न स्यात् । द्वित्वात्प्रागेत्र उपधाहस्वे तु ‘हध् ह अ त्’ इति स्थिते धि इत्यस्य द्वित्वे माह्योगादाढभावे इविधिदिति हहैं सिद्धयति । ननु मा भवान् प्रेदिधत् इत्यत्र प्र इविधिदिति स्थिते कृतेऽपि हस्वे एकदेशविकृतन्यायेन ए-धधातुत्वात् “एस्येभत्यूठुषु” इति वृद्धिः स्यादिति चेद् ? उच्यते । अवर्णोदेजा-योरेत्येधत्योरिति व्याख्यातत्वादित्यलम् ।

प्रश्नः—‘उड्ज-आर्जंवे’ धातोः लुडि औडिजजत्’ इति रूपं कथम् ।

उत्तरम्—ननु उड्ज धातोः णौ लुडि च्लौ चडि इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषे औडिजजत् इति रूपं स्यात् । ‘औडिजजत्’ इत्येवं तु हस्यते । तत्रोच्यते—अयं धातु-रूपदेशे ‘उड्ज आर्जंवे’ इत्याचायेण पठितस्लेन न न्द्राःः’ इति निषेधाज्जिज्ञशब्दस्य द्वित्वे ‘भुजन्तुञ्जौ’ इति सूत्रे उड्जेति निर्देशेन निपातनाद्वाकारस्य बकारे गिलोपे च कृते उक्तं रूपं सिद्धयति । यदि निपातनकृतबकारस्तदा तिष्ठेतदा दक्कारोच्चा-रणं व्यर्थमेव स्यादिति तत्सामर्थ्याद्वित्वानन्तरमेव बकारः ।

प्रश्नः—‘विस्मापयन् विस्मितमात्मवृत्तौ’ इत्यत्र कानुपपत्तिः, किञ्च समाधानम् ।

उत्तरम्—‘विस्मापयन् विस्मितमात्मवृत्तौ’ इत्यन्त्र मनुष्यवाचेति करणेतैव राजो विस्मय इति सिंहरूपयोजकाद्विस्मयाभावेन ‘नित्यं स्मयते:’ इति सूत्रा-प्रवृत्तौ आत्वाभावेन पुग् न स्यात् । यदि प्रयोजकाद्विस्मयः स्वीक्रियते, तदा “भीस्मयोहेतुभये” इत्यात्मनेपदमपि स्यात् । एवज्ञ शतप्रत्यययुक्तं रूपमनुपपत्तं भवतीति सन्देहावसरे ‘विस्मापयन्’ इत्येवं पाठ इति साम्प्रदायिकाः ।

अथवा राजा विस्मयते, मनुष्यवाक् प्रेरयतीति मनुष्यवाक् राजानं विस्माप-यते इति, तां मनुष्यवाचं सिंहः प्रेरयतीति सिंहः तया राजानं विस्मापयज्ञिति इय-न्ताण्णौ मनुष्यवाक्रूपप्रयोजकाद्विस्मयो विषय इत्यात्वादिकार्यं सुलभमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘अध्यजीगपत्’ अस्य साधनप्रकारः साधूपपादनीयः ।

उच्चरम्—अधिपूर्वादिहृषातोणिचि तदन्ताललुङि अडागमे च्लेश्चलादेशे “गौ च संइच्छोः” इति हठो गाडादेशे पुकि उपधाहस्तवत्वे ‘अधि अ गप् ह अ त्’ इति स्थिते गप् हृत्यत्य द्वित्वे हृलादिशेषेऽस्यासत्य “कुहोऽच्चुः” इति चुन्वे “सञ्चत्” इति सञ्चद्वावे “सञ्यतः” इतीत्वे “दोर्घो लघोः” इति हृकारस्य दीर्घे च “अध्यजीगपत्” इति णिष्पन्नम् । न चात्र णिजिनमित्तस्य गाडो द्वित्वे कर्तवये स्थानिवद्वावो निषेधो वा शङ्खः । यत्राभ्यासोत्तरखण्डे आयोऽजवर्णोऽस्ति तत्रैव स्थानिवद्वावो निषेधो बेत्युक्तवावत् । इह तु गाडः पूर्वं सति हि द्वित्वे “अजादे-द्वितीयत्य” इति णिच पव द्वित्वं भवेत्ततश्छङ्गरणिजिनमित्तो गाड् , ततश्च प्रक्रिया-यां परिनिष्ठिरूपे वाऽवर्णवदुत्तरखण्डे दुर्लभं कीर्तयतिसाम्याव ।

प्रश्नः—‘ऐर्विष्यत्’ इति रूपं साधु साधनीयम् ।

उच्चरम्—ईर्व्याधातोण्यन्ताच्छङि अजादित्वादाडागमे ‘आ ईर्व्य् ह अ त्’ इति स्थिते “ईर्व्य्तेऽनुतीयस्येति वक्तव्यम्” इति वार्तिकेन तृतीयव्यञ्जनस्य तृतीयैकाच्च द्वित्वं भवति । ततश्च तृतीयव्यञ्जनस्य द्वित्वपक्षे व्यञ्जनापेक्षया तृतीयव्यञ्जने यकारस्तत्सहितत्य यि हृत्येकाचो द्वित्वे गिकोपे च कृते ‘ऐर्विष्यत्’ इति रूपम् । तृतीयैकाचो द्वित्वपक्षे उत्र तृतीयैकाचोऽभावेन वार्तिकाप्रवृत्ती ‘अजादेद्वितीयत्य’ इति व्यशङ्कदस्य द्वित्वे यलोपादौ च कृते ‘ऐर्विष्यत्’ इति रूपम् ।

प्रश्नः—‘निवृत्तप्रेषणाद्वातोहेऽतुमण्णौ शुद्धेन तुलयोऽर्थः’ इमां फ-किककां साधूपपादय ।

उच्चरम्—ननु ‘प्रार्थयन्ति शयनोत्थितं प्रियाः’ इति माघकावये प्रार्थयन्तीति न चौरादिकस्वार्थिकणिजन्तम् , तस्य आगर्वीयतया आत्मनेपदप्रसङ्गाव । नापि हेतुमण्णन्तम् । स्वाभीष्टं यावते हृत्यर्थं तदसमभावत् । नहि प्रयोजकव्यापाशभावे ततप्रवृत्तिरस्तीयत उच्यते—निवृत्तप्रेषणाद्वातोरिति । निवृत्तं प्रेषणं यस्मात् सः निवृत्तप्रेषणः सम्प्रति अविवक्षितप्रेषण हृत्यर्थः । तस्माद्वातोः भूतपूर्वगत्या प्रेषणमादाय हेतुमण्णौ कृते शुद्धेन णिजिवहितेन धातुना तुलयोऽर्थः प्रतीयते हृत्यर्थः । तदुक्तम्—‘निवृत्तप्रेषणाद्वातोः प्राकृतेऽर्थे णिजिष्यते’ इति । इदम् “णेरणौ” इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

प्रार्थयन्ति शयनोत्थितं प्रिया—हृत्यस्य हि शयनादुत्थितं स्वभतांरं प्रिया:

प्रार्थयन्ते । वयस्याः प्रेरयन्तीति वयस्याः प्रियाभिः प्रार्थयन्तीति दशायां सख्या व्यापारत्यागे याहशोऽर्थः शुद्धार्थेषातोभवति ताहशोऽर्थो ष्यन्ते सत्यपि भवति । इत्यम् प्रिया यौवनेन लज्जां विहाय स्वस्वभर्तारं पुनरागमनाय स्वयमेव प्रार्थयन्तीति वाक्यार्थो भवत्यलम् ।

इति ष्यन्तप्रक्रिया ।

अथ सन्नान्तप्रक्रिया ।

प्रश्नः—‘पविष्टिति’ इति रूपं शङ्कानिरासपूर्वकं प्रसाधय ।

उच्चरम्—इषधातोः सन् इट् हलादित्वाभावेन कित्वाभावादगुणे एष् इ स ति इति स्थिते “अजोद्दितीयस्य” इति षिस् इत्यस्य द्वित्वे हलादिषेषे सनः षट्वे रूपम् । नन्विह सत्यपि कित्वे नित्यत्वात् परमपि गुणं बाधित्वा षिस् इत्यस्य द्वित्वे धात्ववयवस्य इकारस्य उपधात्वाभावादेव गुणाप्रसक्तेर्हलादेरिति व्यर्थमिति चेद्रुपम् । इह नित्यमपि द्वित्वं गुणेन बाध्यते । उपधाकार्यं हि द्वित्वात्प्रबलम्, ओणंऋदित्करणस्य सामान्यापेक्षज्ञापकात् । तथाहि-ओणधातोः ष्यन्तालुडि चडि “णौ छलगुपधाया हस्वः” इति इत्यस्य ‘नागलोऽपि शास्त्रदिताम्’ इति निषेधे सति ‘ओणि अ त्’ इति स्थिते णि इत्यस्य द्वित्वे मा भवानोणिणत् इति रूपम् । अत्र उपधा स्वनिषेधार्थमोणोऽऋदित्करणम् । उपधाहस्वेकृते तु ‘ण् इ अ त्’ इति स्थिते णि इत्यस्य द्वित्वे मा भवानुणिणिति स्यात् । ओकारो न अूयेत इति स्थितिः । यदि तु नित्यत्वात् उपधाहस्वात् प्रागेव ‘ओण् इ अ त्’ इत्यस्यां दशायां द्वित्वं स्यात् । तदा ओकारस्य उपधात्वाभावादेव हस्वाप्रसक्ते-स्तन्निषेधार्थमृदित्करणमनर्थकं स्यात् । तस्मादुपधाहस्वात्मकम् उपधाकार्यं द्वित्वात् प्रबलमिति विज्ञायते इत्यर्थः ।

प्रश्नः—धिष्ठसति ऊर्णुनविषति इति संसाध्य “द्विर्वचनेऽचि” इति निषेधः कुतो नेति दर्शय ।

उच्चरम्—धिष्ठसति दम्भधातोः सनि “दम्भ हच्च” इति इत्वे “सन्ध्याः” इति द्वित्वे “अत्र लोपोऽन्यासस्य” इति अभ्यासलोपे “हलन्ताच्च” इति हक्षम् । हणं जातिपरमित्याश्रित्य कित्वे “अनिदिताम्” इति नलोपे भद्भावे “खरि च” इति चत्वें खिष्ठसति तस्य धातुत्वाललटि तिपि सार्वधातुकसंज्ञायां शपि पररूपे च

रूपम् । यदा “दस्म इच्च” इति दोषेकारादेशस्तदा धीप्सति । यदा “सनीवन्तर्धे” इत्यादीना पाक्षिके इटि दिदम्भवतीति रूपत्रयम् ।

ऊर्णुनविषयति—ननु ऊर्णोतेः सनि “सनीवन्तर्धे” इत्यादिना इटि द्वित्वात्प्राग् “सार्वधातुकार्धधातुकयोः” इति गुणेऽवादेशो च कृतेऽभ्यासे उकारत्य श्रवणन्न स्यादिति चेद् ? न । “द्विर्वचनेऽचि” इति सूत्रेण गुणनिषेधात् । न चात्र “सन्यडोः” इति सूत्रेण सन्नन्तत्स्य द्वित्वं प्रति कार्यित्वादितो निमित्तत्वं न स्यादिति वाच्यम् । इटो द्वित्वरूपकार्यत्वाभावेन निमित्तत्वात् । अत्र “सन्यडोः” इति सूत्रेण प्रथमतः सन्नन्तसमुदायस्य द्वित्वरूपकार्यम्प्रासम्भवति, परब्र “अजादेद्वितीयस्य” इति सूत्रबलेन नुशब्ददस्यैव द्वित्वरूपकार्यम्भवति न त्विटः । इत्यच्च ‘कार्यमनुभवन् हि कार्यो निमित्ततया नाश्रीयते’ इति परिभाषाया अवसर पव नाहित । यत्र कार्यमनुभवन् कार्यो वर्तते, तत्रैव कार्यो निमित्तत्वेन न स्वीक्रियते इति हि परिभाषार्थः । अत्र च ‘यदागमास्तदूगुणंभूतास्तदप्रहणेन गृह्णन्ते’ इति परभाषया इटरूपसन् द्वित्वन्नानुभवतीति दिक् ।

प्रश्नः—‘अरिरिषति’ अस्य लिङ्दिं लिखत ।

उत्तरम्—ऋधातोः सनि वलादिलक्षणे इटि “सार्वधातुकार्धधातुकयोः” इति गुणे रपत्वे “अजादेद्वितीयस्य” इति सूत्रबलेन रिसःशब्दस्य द्वित्वे सलोपे प्रयोगः सिद्धयति । न चात्र “द्विर्वचनेऽचि” इति निषेधात् द्वित्वे कर्तव्ये गुणादेशो न स्यादिति वाच्यम् । इटो द्वित्वेन “कार्यमनुभवन्” इत्यादिपरिभाषया तत्य निमित्तत्वायोगात् । अत्रेट पव द्वित्वं भवतीति कार्यित्वं वर्तते, इटो निमित्तत्वेन न गृह्णते इति “द्विर्वचनेऽचि” इति सूत्रन्न प्रवर्तते इति दिक् ।

प्रश्नः—‘उचिच्छुषति’ इदं रूपं शङ्कासमाधिपूर्वकं प्रसादय ।

उत्तरम्—उच्छितुमिच्छतोत्यर्थं “धाताः कर्मणः समानकर्तृकात्” इति सनि आर्धधातुकत्वात् “आर्धधातुकल्याङ्गलादेः” इतीटि “अजादेद्वितीयस्य” इति “सन्यडोः” इति (द्वित्वविषये “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे ”) इति परिभाषयाऽसिद्धत्वं न वर्तते इति छिशब्दस्य द्वित्वे छकारलोपे चकारक्षेषे तस्माललटि तिपि शपि परस्पे च रूपम् । न चात्र ‘निमित्तायाये नैमित्तिकस्याप्यपायाः’ इति परभाषया छलोपे सति तुकोऽपि निवृत्तिः स्यादिति वाच्यम् । “आरुयानात्” इत्यादिवार्तिके प्रकृतिप्रस्थयापत्तिवचनेन “छूयोः शुहनुनासिके च” इति ग्रन्ते तुग्विशिष्ठङ्कारप्रावेन च परि-

भाषाया अनित्यत्वज्ञापनात् । यदि परिभाषायाः प्रवृत्तिः सर्वत्र स्थात् तदा छका-
रस्य शकारे कृते तुको निवृत्तिः परिभाषयैव स्थादिति सूत्रे तु ग्रहणं व्यर्थमेव । त-
देव व्यर्थं सदुक्तपरिभाषाया अनित्यत्वे प्रमाणं भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—शैषिकान्मतुबर्थीया-इत्यादिकारिका उदाहरणादिप्रदर्श-
नपुरस्सरं द्याख्येया ।

उच्चरम्—शैषाधिकारे भवः शैषिकः । अध्यात्मादित्वाट् । शैषिकात्-जे-
षाधिकभवप्रत्ययान्तात् शैषिकः सरूपः प्रत्ययो न भवति । तेन शालार्यां भवः
शालीयः “वृद्धाच्छः” तदन्तात् शालीये भव इति वाक्यार्थं स छ एव न भवति
किन्तु वाक्यमेव । विरूपस्तु भवत्येव । अहिच्छत्रे भव आहिच्छत्रः । भवार्थेण् ।
तदन्तात्तदाहिच्छत्रे भव इति वाक्यार्थं वृद्धाच्छा भवति । आहिच्छत्रीयः । एवं मतु-
बर्थीयात् सरूपो मतुबर्थकः प्रत्ययो न । धनञ्जानस्यास्तीति मतुबन्तान्मतुठन् ।
विरूपस्तु स्थादेव, दण्डिमती शाला । इह मतुबन्तात् इनिप्रत्ययो भवत्येव ।
सज्जन्तात्सन्नेष्यते । अर्थद्वारा च साहश्यम् । तेनेच्छासज्जन्तात्सन्न । स्वार्थसन्न-
न्तात् स्थादेव । ऊगुप्सिषते, मीमांसिषते इति । इति सज्जन्तप्रक्रिया ।

अथ यड्लुगन्तप्रक्रिया ।

प्रश्नः—यड्लुगन्तात् आत्मनेपदं कथन्नेति प्रदर्श्य यड्लुको भा-
षायां प्रवृत्तौ किम्मानमिति विस्तरेण ब्रूत् ।

उच्चरम्—वेऽभवीति—नन्वत्र प्रत्ययलक्षणेन हित्वधर्ममानोय “अनुदा-
त्तडित आत्मनेपदम्” इति सूत्रेणात्मनेपदं कथं न स्थादिति चेद् ? न । डित्वस्य
प्रत्ययाप्रत्ययोभयवृत्तित्वेन प्रत्ययलक्षणसूत्राप्रवृत्तेः । यो हि धर्मः केवलप्रत्यये ति-
ष्टति, तस्यैव धर्मस्यः प्रत्ययलक्षणेनानयने भवति, यश्च धर्मं प्रत्ययेषु वर्तते, अथ च
धातुष्वपि वर्तते, तस्य धर्मस्यानयने न भवति । हित्वधर्मइव यडादिग्रप्रत्ययेषु वर्तते
अथ च शीङादिधातुष्वपि वर्तते, इति तस्य धर्मस्यानयने न भवति । अत एव
शोभना द्वयो यस्मिन् प्रासादे इति विग्रहे प्रत्ययलक्षणेन असम्भवमादाय “अ-
त्वसन्तस्य” इति दीर्घोऽपि न भवति । असन्तत्वस्योभयेष्वपि विद्यमानत्वात् ।

यड्लुको भाषायां प्रवृत्तौ मानम्—“भूष्ठोल्तिडि” इति गुणनिषेधे
सिद्धे “बोभूतेतिकते०” इति गुणाभावनिपातनं छन्दस्येव गुणनिषेधो भवतीति

नियमं करोति । एवम् यदि भाषायां यहलुक् न स्थातदा नियमस्य किमपि फल-
मेव नास्तीति यहलुक् भाषायामपि सिद्धो भवति । न च द्वित्वे 'बोभू' इति समु-
दाये भूधातोरभावेन 'भूसुवोस्तिहि' इति सूत्राप्राप्तौ गुणभावो निपातनोय ए-
वेति वाच्यम् । पष्टाध्यायोस्थसूत्रेण यद्वित्वं भवति तत्पुनरपि तस्यैवोच्चारणं भव-
ति, न तु नवीनस्य द्वितीयस्य भूशब्दस्य, "द्विः प्रयोगो द्विर्वचने पाष्ठम्" इति
सिद्धान्तात् ।

प्रश्नः—यकारवकारान्तानान्तूठभाविनामिति फक्किकका साधु
द्याख्येया ।

उत्तरम्—“छ्रोः शूद्” इति सूत्रे भाष्ये किद्रप्रहणमनुवर्तते नवेति विचारे
कांश्चिद्दोषानुज्ञाव्य परिहृत्य चोक्तम् । एतावानेव विशेषः । अनुवर्तमाने किद्रप्र-
हणे छः षट्वं वक्तव्यम् । अननुवर्तमाने त्वनेन छः शावे कृते शान्तत्वादेव षो
भविष्यतीति प्रष्टा प्रष्टुमित्यादि सिद्धये वशादिसूत्रे छप्रहणं न कर्तव्यम् । एवं हि
वदता भाष्यकृता उठभाविम्यो यहलुक् भास्तीत्युक्तप्रायम् । अन्यथा दिवर्यहलुकि
ईडभावपक्षे देवेति देवेषि इत्यादौ ऊठो भावाभावाभ्यां महान् विशेषः स्यात् । तत्र
किद्रप्रहणाननुवृत्तावृठः प्रवृत्या देवोति देवोषीत्यादिरूपविशेषलाभात्, परनित्वदं
ज्ञापकं “च्छ्रोः शूद्” इत्यनेन यत्रोठ् प्रवर्तते तत्रैव प्रवर्तते । तज्जापनस्योक्तसुत्रस्य
भाष्यमूलकत्वात् । “ज्वरत्वर” इत्यादिसूत्रेण यत्रोठ् भवति, तत्र यहलुग् भवत्ये-
वेति युक्तं माधवादीनां सम्मतम् ।

प्रश्नः—ऋधातोर्यहलुकि आशीर्लिङ्गि प्रथमपुरुषैकवचने का
रूपसिद्धिः ।

उत्तरम्—ऋधातोर्यहलुकि द्वित्वे उदादत्वे हलादिशेषेऽभ्यासे रिकि आशी-
र्लिङ्गि अरि क्र यात् रीकि च अरी क्र यात् इति स्थिते “अभ्यासस्यासवणे” इति
इकारस्येयङ्गि ऋकारस्य रिकादेशे “अरियियात्” इति रूपम् । अब “लोपो व्योः”
इति यलोपस्तु न, बहिरङ्गस्येन रिकोऽसिद्धत्वात् । “अवः परस्मन्” इति स्थानि-
वृत्वात् । “न पदान्त” इति निषेषस्तु न शक्यः । स्वरदीर्घयलोपेषु लोपरूपा-
जादेष्य एव न स्थानिवत् इत्युक्तेः । इति यहलुगान्तप्रक्रिया ।

अथ नामधातुप्रक्रिया ।

प्रश्नः—‘अवगतमाञ्चके’ अत्र शङ्कासमाधिरूप्यताम् ।

उच्चरम्—अवगतमादयः पचाद्यजन्त्वा । किप्पत्रियोगेनानुदात्त्वमनुनातिकर्त्त्वं चाच्चप्रत्ययस्य प्रतिज्ञायते । न चात्र किप्पत्रियसन्नियोगेन अच्चप्रत्ययस्या नुनासिकत्वादिनिपातनाद्व लभादिघटकाकारस्य लोपेऽनेकाच्चत्वाभावेन आम् न स्यादिति वाच्यम् । ‘साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिराश्रीयते’ इति परिभाषया आम्प्रत्ययस्य सिद्धत्वात् । उक्तवचने प्रमाणम्—“आचारेऽवगत्भ” इत्यादिवातिकमेव । न चाचारेऽर्थे ऽवगत्भते इत्यादावात्मनेपदार्थं वार्तिकं सार्थकमिति वाच्यम् । “धातुनामनेकार्थाः” इति वचनेन प्रत्ययरहितगलभादिधातोरप्याचारेऽर्थं शक्तिप्रदर्शनादवगत्भते इत्यादौ तड़ि सिद्धत्वात् । वार्तिकेऽबोपसर्गविशिष्टपाठसामर्थ्येन केवलगलभादिधातोः उपसर्गान्तरविशिष्टाच्च गलभादिधातोः क्यष्टेवभवतीति माधवादयः । परम्पर्य क्यद्विक्तोर्नास्ति विवादो द्वाभ्यामपि भावयत् । किन्तु अबोपसर्गरहितेभ्यो गलभादिभ्यः किपि सति परस्मैवदमेव स्थान्तत्वात्मनेपदमित्येव वक्तुं युक्तम् । वार्तिकस्य मुख्यप्रयोजनं प्रयोगे आम्प्रत्ययस्य सिद्धिः । आत्मनेऽपदं तु गौणफलमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘अवागलिभष्ट’ इति रूपं शङ्कानिरासपूर्वकं साधय ।

उच्चरम्—अवागलिभष्ट—अव उपसर्गात् गलभ इत्यत्मात् “आचारेऽवलभक्लीबहोदेभ्यः किभ्वा वक्तव्यः” इति किवपि धातुत्वाललुडि अनुदात्त्वादात्मनेपदे प्रत्यये छले “च्छः सिच्” इति सिद्धादेशे इति प्रत्ययसकारस्य “आदेशप्रत्यययोः” इति षट्के छटुत्के, अडागमे कर्तव्ये उपसर्गस्य पृथक्कृत्वा गलभशब्दात्पूर्वम् अटि दीर्घे च रूपम् । अत्र सङ्ग्राम-युद्धे इत्यत्र योऽयं प्रामशब्द इत्युक्तेऽपि सामर्थ्यात् सङ्ग्रामशब्दे लब्धे विशिष्टपाठे ज्ञापयति—‘उपसर्गसमानाकारपूर्वपदं भातुसंज्ञाप्रयोजके प्रत्यये चिकोर्षिते पृथक् क्रितत इति सिद्धान्तादेव उपसर्गस्य पृथक् करणमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘स्वमनायत’ एतद्वूपं शङ्कानिरासपूर्वकं प्रसाध्य उपसर्गस्य पृथक्करणे सफलं ज्ञापकं प्रदर्शय ।

उच्चरम्—असुमनः सुमनो भवतीत्यर्थे “भृशादिभ्यो भुद्यच्छेलीपश्च हलः” इति क्यष्टि सकारलोपे च कृते “अकृतसार्वतातुक्योर्दीर्घः” इति दोषे क्यष्टन्तत्वय

धातुत्वालक्षि तडि सार्वधातुकसंज्ञायां शपि पररूपे मनःशब्दात्प्रागेवाटि यणि रूपम् । ननु सुमनस्शब्दात् क्यहृविधानेन सुमनस्शब्दस्याङ्गसंज्ञासत्त्वात् उशब्दात्प्रागेवाट् भविष्यतीति तज्ज, सङ्ग्रामयुद्ध इत्यत्र युद्धे सङ्ग्रामशब्दः स च समुपसर्गविशिष्ट एवास्ति न केवलग्रामशब्दस्ततो ग्रामशब्दपाठेनैव सङ्ग्रामशब्दकामे समुपसर्गविशिष्टपाठे व्यर्थांभूतो ज्ञापयति—धातुसंज्ञाप्रयोजकीभूतप्रत्ययस्य चिकिर्षितत्वे उपसर्गसमानाकारकपूर्वपदस्य पृथक्करणं भवतीति तात्पर्यात् । तेन ‘स्वमनायत’ इत्यादौ सूपसर्गस्य पृथक्करणं फलं भवति । अथ च ज्ञापकस्य सजातीयापेक्षत्वेन यत्रोपसर्गस्य सम्पूर्णरूपेण विथितित्रैव पृथक्करणं भवति, यत्र तु गुणादेशेनोपसर्गस्यापहरणं भवति; तत्र पृथक्करणज्ञ भवति । ततश्च ओढ हव आचयेति विप्रेह आः । पृथक्करणभावेनावयवपूर्वपदत्वाभावाललयप् न भवतीति फलम् । ज्ञापकस्य विशेषापेक्षत्वे “उत्थ्योमाङ्गक्वाटः प्रतिषेधो वक्तव्यः” इति वार्तिकं तत्प्रत्याख्यानपरम् “आटश्च” इति सूत्रे चकारग्रहणज्ञ प्रमाणम् । अन्यथा—औढीयदित्यादौ धातुसंज्ञायां कर्तव्यायाम् आः पृथक्करणेन “ओमाङ्गोश्च” इति सूत्राप्रवृत्तौ वार्तिकं व्यर्थमेव । एवज्ञ पररूपादिकार्यप्रवृत्तौ पुनर्वृद्धिविधानार्थं चकारग्रहणमपि व्यर्थम् । “आटश्च” इति सूत्रे चकारग्रहणम् “आटश्च” इति वृद्धिविषये यद्यन् कार्यं प्राप्नोति तत्तत्सर्वं निवारयतीति चकारग्रहणेनैव पररूपज्ञ स्यादिति वार्तिकं निष्प्रयोजनमिति तद्दगवता प्रत्याख्यातम् ।

प्रश्नः—‘वृद्धौ सत्यां टिलोपः’ अत्र ज्ञापकं फलञ्च प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“वृद्धेर्लोपो बलीयान्” इति भाष्यवचनात् पूर्वं टिलोपे अउलोऽपि-त्वाहीर्घसन्वज्ञावयोरभावात् ‘अजहलत्’ ‘अचकलत्’ इति रूपद्वयसिद्धौ ‘हलिकलयो-रदन्तत्वनिपातनं व्यर्थमेव, तदेव व्यर्थांभूय वृद्धौ सत्यां टिलोपो भवतीति वचनं ज्ञापयति । इत्थज्ञ स्वांशे चरितार्थम् । फलञ्च—‘अपीपटत्, अपपटत्’ इति रूपद्वय-सिद्धिः । पूर्वोक्तभाष्यवचनेन पूर्वं टिलोपस्ततो वृद्धिरिति पक्षः सिद्धो भवति । हलिकलयोरदन्तत्वनिपातनेन च पूर्वं वृद्धिस्ततष्टिलोप इति पक्षः सिद्धो भवति । एवज्ञ प्रमाणद्वयेन मतद्वयं सिद्धमभवतीति पूर्वोक्तरूपद्वयस्यापि सिद्धिरिति दिक् ।

प्रश्नः—‘व्यादयति’ इति रूपं साधु प्रसाद्य “प्रकृत्यैकाच्” इति सूत्रस्य किञ्चलमिति वद ।

उत्तरम्—“मपर्यन्तस्य” इत्यधिकारात् ‘प्रत्ययोत्तरपद्योश्च’ इति सूत्रेण

त्वादेशे अन्तरङ्गत्वात् पूर्वम् “अतो गुणे” इति पररूपे ततः “प्रकृत्यैकाच्” इति टिलोपनिषेधे वृद्धौ च सत्यां तत्सिद्धिः । नच “प्रकृत्यैकाच्” इतिसूत्रस्योदाहरणं वार्तिककारेण प्रेष्ठः प्रेषान् इति दत्तम् । तच्चोदाहरणं भाष्यकारेण टिलोपे कर्तव्ये ‘असिद्धवद्वाराभात्’ इति सूत्रेण प्रादेशल्यासिद्धत्वात् प्रादेवोऽकारोच्चारणसामश्यां द्वेति हेतुद्वयेन साधितम् । एवज्ञ “प्रकृत्यैकाच्” इति सूत्रं भाष्ये प्रत्याल्यात्मिति वाच्यम् । प्रेषेत्यादिप्रयोगोऽन्यथासिद्धिः न तु “प्रकृत्यैकाच्” इति सूत्रस्य मुख्योदाहरणमित्येव तज्जाल्याशयात् । मुख्योदाहरणन्तु ‘त्वादयति, मादयति’ इत्यादि । वार्तिककारोकोदाहरणमन्यथासिद्धमिति भाष्यतात्पर्यम् , न तु तत्सूत्रमेव न कर्तव्यमिति तत्प्रत्याल्याने तात्पर्यमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘श्वानमाचष्टे’ इत्यर्थं कानि रूपाणि शङ्कासमाधानञ्च किम् ? तदुपपादय ।

उत्तरम्—शुनयति—श्वानमाचष्टे इत्यर्थं ‘तत्करोति तदाचष्टे’ इति णिचि इष्टवज्ञावेन भव्यात “श्युवमघोनामतद्विते” इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे तस्माल्लितिपि शपि गुणे अयादेशे च रूपम् । अत्र “नस्तद्विते” इति टिलोपो न, इष्टनि टिलोपस्यादृष्टत्वात् । ब्रह्मिष्ठ इत्यादौ तु परत्वात् ‘ऐः’ इत्यस्यैव प्रवृत्तेः । तस्मात् शुनयति रूपम् । अन्येषाम्मते शावयतीत्यपि रूपम् ।

तथाहि-श्वानमाचष्टे इति विग्रहे “नस्तद्विते” इति टिलोपे “इवश्यमघोनामतद्विते” इत्यनेन सम्प्रसारणे वृद्धौ च सत्यां तत्सिद्धिः । न चात्र “प्रकृत्यैकाच्” इति प्रकृतिभावे टिलोपो न स्यादिति वाच्यम् । “येन नाप्रासिन्यायेन ‘ऐः’ इत्यस्यैव बाधकत्वात् । यत्र यत्र “प्रकृत्यैकाच्” इति सूत्रं प्रवर्तते, तत्र तत्र “नस्तद्विते” इति सूत्रं न प्रवर्तते । “ऐः” इति सूत्रं तु यत्र यत्र “प्रकृत्यैकाच्” इति प्रवर्तते, तत्र तत्र सर्वत्रैव प्रवर्तते, इति “ऐः” इत्यस्यैव बाधकत्वम् । प्रेषेत्यादौ “प्रकृत्यैकाच्” इति सूत्रविषये “नस्तद्विते” इति न प्रवर्तते, “ऐः” इति सूत्रं तु प्रवर्तते एव । इष्टनि यथात् सूत्रं प्रवर्तते तस्यैव सूत्रस्यातिदेशो भवति । इत्यज्ञ ब्रह्मिष्ठ इत्यादौ परत्वात् ‘ऐः’ इत्यनेनैव टिलोपः सिद्धो भवतीति “नस्तद्विते” इति सूत्रस्य तत्राप्रवृत्तिः । तथाच “नस्तद्विते” इति सूत्राप्रवृत्तौ ‘शुनयति’ इत्येव रूपमिति केचित् ।

उत्तरम्—तिर्यङ्गमाचष्टे इत्यर्थं णिाच इष्टवज्ञावेन टिलोपे तस्य बहिरङ्गत्वे-

नासिद्धत्वात् तिरसस्तियदेशे बृद्धो आयि 'तिरायि' इति स्थिते ततो लटि तिपि
शपि गुणे अयादेशे पररूपे च रूपम् । नवान्न टिलोपेनाम्भधातुत्वाभावात्कथं तिर्या-
देश इति वाच्यम् । "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इति परिभाषया तिर्यादेशे कर्तव्ये
टिलोपस्यासिद्धत्वेन अम्भधातुत्वसत्त्वात् । नच तिर्यादेशे कृते पुनर्षिलोपः स्वादि-
ति वाच्यम् । यथाऽपाचितरामित्यन्न "असिद्धवदनाभात्" इति सूत्रेण प्रथमतातो-
पस्यासिद्धत्वेन तरबूघटकत्कारस्य पुनः "चिणो लुक्" इति सूत्रेण लुक् न भवति,
तथात्रापि प्रथमटिलोपस्यासिद्धत्वेन पुनर्षिलोपाभावात् । "अङ्गकार्ये कृते पुनर्नाङ्गका-
र्यम्" इति परिभाषया वा पुनर्षिलोपाभावाच्चेति दिक् । इति नामधातुप्रक्रिया ।

अथ कण्डवादयः ।

प्रश्नः—कण्डवादीनां धातुत्वप्रातिपदिकत्वेभयस्वीकारे फलं
प्रमाणञ्ज्ञ निरूपय ।

उत्तरम्—कण्डवज्ञ इति दीर्घपाठेन प्रातिपदिकाः इति ज्ञायत । तथाहि—
'कण्डवम् गान्नविवर्णे' इति धातौ कण्डु इति हस्तान्तःएव पठितव्यः । "अकृत्सा-
वधातुकयोः" इति दीर्घे कण्डयते इति रूपं सेत्यतीति दीर्घान्तपाठे ज्ञापयति
'कण्डवादयः प्रातिपदिकाः' इति । यदि च कण्डवादयः प्रातिपदिकात्तर्हि "कण्डवा-
दिभ्यो यक्" इति भूत्रे ककारोपादानं व्यर्थमेव स्यात् , तदेव व्यर्थं सद् ज्ञापयति-
'कण्डवादयो धातवः' इति । हस्तथञ्च कण्डवादीनां धातुत्वं प्रातिपदिकत्वम्बन्धेत्यु-
भयं सिद्धम् । अत एवोर्क भाष्ये—

"धातुप्ररकणादातुः कस्य चासक्षनादपि । आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्वि-
भाषितः, इति ।

एवञ्च धातुपक्षे—'कण्डयते' हस्तादीनां सिद्धिः । प्रातिपदिकत्वपक्षे—यकि
असति सति किपि च कृते-कण्डः धातुत्वादुवङ्गि कण्डवा, कण्डयः इति, प्राति-
पदिकत्वे—यणि कण्डवौ कण्डवः हस्तादि । इति कण्डवादयः ।

अथात्मनेपदप्रक्रिया ।

प्रश्नः—आहध्यं मा रघुचममिति प्रयोगे शङ्कासमाधी
निरूप्येताम् ।

उत्तरम्—ननु आहृष्टम् हृत्यादिग्रयोगे रघूतमस्य कर्मवेन स्वीयाहृष्टकर्म-कर्त्वाभावादकर्मकर्त्वाभावाच्च ‘लाङो यमहनः’ हृति सूत्रेण आत्मनेपदाभाव इति चेद् ? न । प्राप्येत्यध्याहारमाश्रित्य रघूतमस्प्राप्य मा हृष्टम् हृति प्राप्ति-क्रियास्प्रत्येव रघूतमस्य कर्मतया हन्तेरकर्मकर्त्वादात्मनेपदस्य निर्वाचात् । न च प्राप्येत्यध्याहारे श्वशुराजिह्वेतीतिवद्वापि कर्मणि पञ्चम्या भाव्यमिति वाच्यम् । लयबन्तं विनैव यत्र लयबन्तार्थप्रतीतिस्त्रैव “लयङ्गोपे कर्मण्यधिकरणे च” हृति वचनस्य प्रवृत्तित्वात् । अत्र तु लयबन्तं त्रिना लयबन्तार्थभानं न । भवति प्रत्युत मारणमेव प्रतिभातीति तत्याविषयत्वम् । अथवा भेत्तुमित्यादि तु मुख्नन्ताऽध्याहारो वा कर्तव्यः । एवम् ‘आजघ्ने हृति व्याख्यानेन हनूधातोरकर्मकर्त्वात्प्रयोगः साधुः । अथवा वक्षो भेत्तुमिति तु मुख्नन्ताऽध्याहारः कर्तव्यः, यथा—लोके मलङ्गोऽतिहर्षात्स्वरूपैव वक्षस्ताद्यति, तथा विषमविलोचनस्य समीपमेत्य स्वकोयमेव वक्षः आजघ्ने ।

प्रश्नः—“णेरणौ यत्कर्मणो चेत्स कर्ताऽनाध्याने” अस्योदाहरणं संझृद्यताम् ।

उत्तरम्—पश्यति भवः हृति द्वितीयकक्षायां या क्रियोचयते सैव क्रिया दर्शं यते भव हृति चतुर्थकक्षायासुच्यते । एव च क्रियासाम्बात् प्रथमकक्षायां भवरूपकर्मणः कर्तृत्वाच्चात्मनेपदं सिद्धमवति । एवं कर्तृत्वक्रियायामारोहयते हस्तीत्यन्नापि अथवा पश्यन्ति भवमारोहन्ति हस्तिनमिति प्रथमकक्षायामेव कर्मणो हेतुत्वारोपणिणचि दर्शयति भवः आरोहयति हस्तीति । ततश्च गिर्जर्थध्यापारस्य अध्यारोपितकर्तव्यापारस्य च त्यागेन दर्शयते भव हृति तृतीयकक्षायामेव तद्भवति । न च भवरूपकर्मणः कर्तृत्वाद् दर्शयति भवो भक्तानिति द्वितीयकक्षायां कथं तद्भव स्यादिति वाच्यम् । अध्यारोपितकर्तव्यापारेण साम्येऽपि गिर्जर्थध्यापारस्याधिकरणसमानक्रियत्वाभावात् । तृतीयकक्षायां तु धातूपात्तव्यापारस्य गिर्जर्थध्यापारस्य च त्यागेन समानक्रियत्वात्त्वसिद्धः । न च तृतीयकक्षायामपि चाक्षुषशानविषयीकरणरूपध्यापारयुक्तायाः पश्यन्ति भवं भक्ता हृति प्रथमकक्षास्थक्रियायां अपेक्षया न्यूनता स्यादिति वाच्यम् । एवकारेणाधिकांशस्यैव निहसारितत्वात् ।

हृत्यात्मनेपदप्रक्रिया ।

अथ परस्मैपदप्रक्रिया ।

प्रश्नः—“अनुपराभ्यां कृजः” इति सूत्रे कर्तरीत्येव भावकर्मणो-
मार्भूत इत्यादि फक्षिकका विशदं व्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—“अनुपराभ्यां कृजः” हृत्यत्र भावे कर्मणि लकारस्य कर्तुगे फले
परस्मैपदनिवृत्यर्थं कर्तरीत्यस्यानुवृत्तिरिति तत्वम् । ननु कर्तरीत्यस्यानुवृत्तावपि
अनुक्रियते शब्दः स्वयमेवेत्यत्र कर्मकर्तरिपरस्मैपदं दुर्बारमिति चेद् । न । कर्मक-
र्तरिपरिक्रियां तत्र ‘कर्मवत्’ हृत्यनेन कर्मकर्तर्यतिदिक्षयते । तथा चात्र कर्मकर्तरिभाव-
कर्मणोरित्यात्मनेपदशास्त्रमिहातिदिक्षयते तस्य च परत्वाभावात् कथमस्य बाधाः
स्यादिति चेद् । शास्त्रातिदेशस्य कार्यसम्पत्तिफलकत्वात् कार्यातिदेशस्य मुख्य-
तथा तस्यैवेहाश्रयणात् । एवज्ञ प्रकृते आत्मनेपदविधायकं “कर्मवत्कर्मणा” हृत्येव ।
तच्च “अनुपराभ्याम्” हृत्यतः परमिति कर्मकर्तरिनास्य प्रवृत्तिः । यदा शास्त्राति-
देशपक्ष एवाश्रीयते, तदा “अनुपराभ्यां कृजः” हृत्यत्र “कर्तरिपरिक्रियतिहारे” हृत्य-
स्मादेकं कर्तग्रहणमनुवर्तते, तथा “शेषात् कर्तरिपरस्मैपदम्” हृत्यतो द्वितीयं
कर्तुग्रहणमनुवर्तते । तथा च स्वभावत एव यः कर्ता न तु विवक्षाधीनः कर्मकर्ता
तथाविधकर्तव्येव अनुपराभ्यां कृजः परस्मैपदमिति लभ्यते । एवज्ञ कर्मकर्तरिपरिक्रिया ।

अथ भावकर्मप्रक्रिया ।

प्रश्नः—‘प्रकृतो मितां हस्य एव तु न विकलिपतः’ इत्यादिफक्षि-
का विशदं व्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—ननु “चिण्णमुलोः” इति सूत्रे दीर्घग्रहणं व्यर्थम् । “चिण्णमुलो-
रन्यतरस्याम्” हृत्येतावतैव “मितां हस्यः” इति पूर्वसूत्रादनुवृत्तस्य हस्यविकल्पे वि-
कल्पे दीर्घविकल्पसासिद्धेरिति चेद् । शमधातोर्णयन्ताण्णो पूर्वेणेल्लोपे लुटि तासि
प्यन्तरस्याजादित्वाच्छिण्वदिटं तस्याभीयत्वेनासिद्धतया अनिटीति निषेधाभावा-
णिलापे दीर्घविकल्पे सति शमिता शामितेति रूपद्वयमिष्यते । हस्यविकल्पविधाने
तु हस्यविकल्पे न स्यात् प्रथमगिलोपस्य “अचः परस्मिन्” । इति स्थानिवत्वेन
स्यवहिततया चिण्णप्रकणिपरकत्वाभावात् । दीर्घविकल्पविधौ तु प्रथमस्य णिचो

लोपो न स्थानिवत् दीर्घविधौ स्थानिवत्वनिषेधात् । भाष्यकारस्तु “न पदान्त” इति सूत्रे “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” इत्येव सिद्धत्वात् तत्र द्विर्वचनसर्वानुस्वारदीर्घजश्चरिधीन् प्रत्याख्यातवान् । न च एवन्ताणी “चिण्णमुलोः” इति दीर्घे कर्तव्ये प्रथमणिलोपस्य स्थानिवत्वं दुर्वारम् । “चिण्णमुलोः” इति दीर्घस्य पूर्वत्रासिद्धीयत्वाभावात् । ततश्च प्रथमणिचा व्यवहितत्वात् दीर्घानापत्तिः । एवम् तत्र दीर्घे कर्तव्ये स्थानिवत्वनिवारणाय दीर्घप्रहणस्यावश्यकत्वात्कथं दीर्घप्रहणस्य प्रत्याख्यानमिति चेद् ? न । “चिण्णमुलोः” इति दीर्घविधौ णाविति णित्वजातिप्रधानो निदेशः । चिण्णमुलप्रकणित्वजातौ परत इति यावद् । णित्वजातिश्च णिद्वयेऽस्तीति प्रथमणेः स्थानिवत्वेऽपि दीर्घस्य निर्बाधत्वात् । एवम् इस्वदीर्घयोर्विशेषाभावात् हस्वविकल्प एव क्रियतां मास्तु दीर्घप्रहणमिति भाष्यकाराशयः ।

प्रश्नः—द्विकर्मकेषु सोदाहरणं कर्मप्रत्ययविचारः प्रस्तृयताम् ।

उत्तरम्—इत्थं हि द्विकर्मकाणां धातुनां कर्मप्रत्ययस्य व्यवस्था—

गौणे कर्मणि दुद्यादेः प्रधाने नीहृष्टवहाम् ।

बुद्धिभक्षार्थयोः शब्दकर्मकाणां निजेच्छाया ॥

प्रयोज्यकर्मण्यन्येषां एवन्तानां लादयो मताः ॥ इति ।

दुद्याच्प्रभृतीनां द्वादशधातुनां गौणे कर्मणि लादयो भवन्ति । गौदुद्याते पथः । गोपेनेति शेषः । अत्र गोरप्रधानकर्मत्वात्तिमन कर्मणिलकारः । तिङ्गा अभिहितत्वात् गोः प्रथमा । प्रधानकर्मत्वात्पय इति द्वितोशान्तम् । नीहृष्टवहां प्रधाने कर्मणि लादयो भवन्ति । अजा ग्रामं नीयते, हियते, कृष्यते भद्रते । अत्र अजायां प्रधानकर्मणि लकारः । ग्रामस्यानभिहितत्वात् द्वितीया । बुद्ध्यर्थकल्पय भक्षार्थकल्पय शब्दकर्मणाञ्च प्रधाने वा गौणे वा कर्मणि स्वेच्छेण्या लादयो भवन्ति । बोध्यते माणवको धर्मस् । बोध्यते माणवकं धर्म इति वा, भोज्यते माणवकमोदनः । भोज्यते माणवक ओदनमिति वा । वेदोऽव्याप्तयते विधि हरिणा, बेदमध्याप्तयते विधिरिति वा । अन्येषां गत्यर्थादीनां प्रयोज्यकर्मणि लकारः । देवदत्तो ग्रामं गम्यते, अत्र प्रयोज्यकर्मणि देवदत्ते इति गमेऽर्थन्तात्कर्मणि लः । इति भावकर्मप्रक्रिया ।

अथ कर्मकर्तृप्रक्रिया ।

प्रश्नः—“कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः” इति सूत्रस्य कोऽर्थः, किञ्चेदादाहरणम्, सूत्रेण कर्मणेऽयस्य वा किम्फलम् ।

उच्चरम्—“कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः” कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवस्थ्यादिति सूत्रार्थः । भिष्टे काष्ठम्, इत्युदाहरणम् । ‘देवदत्तः काष्ठं भिनत्तिं द्विधाकरोतीत्यर्थः । अत्र भिद्वातोर्द्विधाभवनं द्विधाभावनभवेति व्यापारद्वयम्, तत्र द्विधाभावनस्य—कुठारादिपातनरूपस्य—आश्रयो देवदत्तः, काष्ठञ्च द्विधाभवनस्याभ्यः, ततः सौकर्योतिशयशोतनाय यदा कुठारस्य उद्यमनिपातनादिः देवदत्तव्यापारोऽविवक्षयते, तदा द्विधाभवनरूपे स्वव्यापारे काष्ठस्य स्वतन्त्रत्वात्कर्तृत्वं स्मृप्त्यते; तस्य “कर्मवत्कर्मणा” इति सूत्रेण कर्मवज्ञावाचगात्मनेपदयोः भिष्टे काष्ठम् । इति रूपम् । न चात्र द्विधाभवनरूपा या क्रिया कर्मस्था कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायामपि सैव न तु ततुर्थां, तुल्यत्वस्य भेदघटितत्वात् तत्कथं कर्मत्वातितिदेश इति वाच्यम् । वास्तवभेदाभावेऽपि कर्मत्वकर्तृत्वावस्थाभेदोपाधिकं तत्समानाधिकरणक्रियाया भेदमाश्रित्य व्यवहारात् । कर्मणेति किम् ? कर्मणेत्यस्याभावे असिना छिनत्ति, स्थाल्यां पचतीत्यत्र करणाधिकरणयोर्यो व्यापारः स प्रेदानीमसिद्धिनत्तिं स्थाली पचतीत्यादौ कर्तृस्थ इति तत्रापि कर्मवत्वं स्यात्, तन्मा भूदित्येवमर्थं कर्मणेति पदमित्यर्थः । ननु तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवद्वति इत्युक्ते केनेत्याकाङ्क्षायामनेककारकोपस्थितावपि कर्मवदिति प्रत्यासत्या कर्मणेति लभ्यत एवेति चेद् ? तर्हि ‘गच्छति ग्रामः’, आरोहति हस्तीत्यादौ कर्तृस्थक्रियेभ्यो कर्मवत्वनिवृत्यर्थं तदिति स्यात् । न चैवमपि पचिभिद्विभृतीनामेव गमिरुहिप्रभृतीनां सकर्मक्त्वे फलस्य कर्मनिष्ठत्वे च तुलये कर्तृस्थभावका गम्यादय इति कथं ज्ञातव्या इति तु न शङ्ख्यम् । यत्र कर्मणि क्रियाकृतो विशेषो हृषयते यथा पक्वेषु तुण्डुलेषु, यथा वा छिन्नेषु काष्ठेषु तत्र कर्मस्था क्रिया नेतरत्र । नहि पक्वापक्वतण्डुलेभिव गतागतग्रामेषु आरुदानां रुद्धहस्तिभित्यादौ वा क्रियाकृतं वैलक्षण्यं प्रत्यक्षमुपलभ्यते इति ।

प्रश्नः—“तपस्तपः कर्मकस्यैव” इति सूत्रस्य किमुत्थानबीजम्, वृत्तिकारमतञ्चात्र कीदृशम्, तदायुधमते रोचते न घा ।

उच्चरम्—उपवासादिरूपतपस्तापसे तपति दःखोकरोतीत्यर्थः । एवम् तापस्य कर्मत्वे तपूतोर्दुखजननमर्थः । तापसः स्वयमेव तप्यतेऽर्थात्प अर्जयतीति

तापसत्थ कर्तुत्वे तपेरजनरूपार्थः । एवं हि कर्मस्था क्रिया दुःखजननरूपा, कर्तुत्था क्रिया तु अर्जेनरूपेति क्रियाभेदात्सकर्मकत्वाच्चाप्राप्ने कर्मवद्वावे “तपस्तपः कर्म-कस्य” इति सूत्रं विध्यर्थम् । एवकारस्तु व्यर्थं एवेति वृत्तिकारादयः । वस्तुतस्तु कर्म-त्वकर्तुत्वरूपावस्थाद्वयेऽपि तापस उपवासादिजन्यकृशतादिरूपशरीरसन्तापमनुभ्य पुण्यविशेषमर्जयतीति कर्मस्था क्रिया कर्तुत्था क्रिया च समानेति कर्मवद्वावे प्राप्ने सकर्मकाणां कर्मवद्वावद्वेत्तहि तपेरेव इति नियमार्थं सूत्रम् । तथा च ‘सकर्मकाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः’ इति वार्तिकमपि न कर्तव्यम् । नियमेनैव एवकारे लब्धे सूत्रे एवकारप्रहृण व्यर्थं सत् ‘तपधातोरपि यदि कर्मवद्वावद्वेत्तहि’ तपः कर्मकस्य-वेति द्वितीयनियमं करोति । तेन सुर्वण्मुक्तपतीत्यादौ कर्मवद्वावो न भवतीति फलमिति दिक् । इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ।

अथ लकारार्थप्रक्रिया ।

प्रश्नः—‘याहि याहीति याति’ इति विशेषशास्त्रकार्यप्रदर्शनेन साधय ।

उरत्तम्—‘याहि याहीति याति’ इत्यत्र “क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हि-स्वौ वा च तत्त्वमोः” इति लोट्, तत्त्व सर्वपुरुषवचनविषये परस्पैषदिभ्यः कर्तव्यं हि; एव वाहीति अत्र “यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्तिमन्” इति लोट्प्रकृतिभूत एव धातुरनुप्रयोज्यः, तत अनुप्रयोगात् यथा-यथं लडादयस्तिवादयश्च भवन्ति, ततः संख्याकालयोः पुरुषविशेषार्थस्य चाभिव्यक्तिः । अत्र “क्रियासमभिव्याहारे द्वे वाच्ये” इति द्वित्वे याहि याहीति याति, यातः, यान्ति, इत्यनुप्रयोगात्सर्वलकाराः सर्वपुरुषवचनानि च भवन्ति । पुनः पुनरतिशयेन वा एकर्तुं वर्तमानकालिकं यानं यातीत्यर्थः । अत्रेतिशब्दस्त्वभेदान्वये तात्पर्यं प्राहयतीति दिक् ।

इति लकारार्थप्रक्रिया ।

अथ कृदन्तकृत्यप्रक्रिया ।

प्रश्नः—“अचो यत्” इति सूत्रं कर्तुमशक्यं न वेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—हलन्तेभ्यो यत्प्रत्ययस्य विशिष्य विधानं भवतीति विशेषविहितस्वेन यत्प्रत्यययो यत्प्रत्ययस्यापवादो भविष्यतीति, अर्थादेवाजन्तेभ्यो धातुभ्यो उच्चप्रत्ययः स्यादिति सूत्रेऽन्तप्रहृणो न कर्तव्यम् । एव व्याख्यानेन ग्रन्थाते यद्यु-

हणमपि “तत्प्रथयानीयरः” इति सूत्रे एव कर्तव्यम् । न चाज्ञप्रहणाभावे “वाऽ-सरूपोऽल्लियाम्” इति परिभाषया षष्ठप्रत्ययाभावपक्षे हलन्तेभ्योऽपि धातुभ्यो षष्ठप्रत्ययप्रसङ्गः स्यादिति वाच्यम् । “नानुबन्धकृतमसारूप्यम्” इति परिभाषया षष्ठयतोः सरूपपत्वात् । द्वयोः प्रत्यययोः समानरूपत्वेन “वाऽसरूप” इति सूत्राप्रवृत्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—‘इच्छेति हस्तः सुपठः’ इति केनाभिप्रायेणोपस्थितमिति लिख ।

उत्तरम्—खन्धातोः क्यपि नकारस्य हस्तेकारे आद्गुणे च खेयमितिरूपसिद्धिनिर्बाधा । दीर्घस्य हस्तस्य वा आद्गुणे विशेषाभावात् अतस्तत्सूत्रे हस्तपवेकारे विधेयो न तु दीर्घः, हस्तविधाने मात्रालाभवात् इति । ननु हस्तेति हस्तादेशाभ्युपगमे। तस्यादेशस्य पूर्वेण सह आद्गुणे तस्यासिद्धतया “हस्तस्य पिति” इति तु कृत्य स्यात् “सत्वतुकोरसिद्धः” इति षष्ठे तुकिं च कर्तव्ये एकादेशशास्त्रस्यासिद्धत्वस्वीकारात् इति चेद् ? न । तु विवधौ पदान्तपदाच्चोरादेशोऽसिद्धो न त्वन्योपयीति सिद्धान्तात् ।

प्रश्नः—‘भार्या वधूः’ इत्यत्र क्यप् भवति नवेति वद ।

उत्तरम्—ननु “भृतोऽसंज्ञायाम्” इति सूत्रे भार्या: क्षत्रिया इति उल्लिङ्गे संज्ञायां क्यपोऽभा’ कुर्वत्सच्चरितार्थमिति ज्ञालिङ्गे संज्ञायां न प्रवर्तिष्यते इति भार्या वधूरित्यत्र “संज्ञायां समजनिनित्” इत्यादिना क्यपा भाव्यमिति चेद् ? न । “एकानुबन्धकप्रहणे न द्वयनुबन्धकस्य” इति परिभाषया ‘हुभृज् धारणपोषणयोः’ हस्तस्मात्कथादिपठितदीर्घान्ततात् भूते भरणे इत्यस्माद् वा षष्ठप्रत्ययस्य सिद्धस्तवात् । “संज्ञायां समजनि” इत्यादिसूत्रे हस्तवान्तभृज्धातोः पाठेन दीर्घान्तभृधातुविषये तत्सूत्राप्रवृत्तिः । हुभृज्धातौ अनुबन्धद्वयं वर्तते, भृज्धातौ देकनुबन्धो वर्तते, इति द्वुभृज्धातुविषयेऽपि तत्सूत्राप्रवृत्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—“नकादेः” इति सूत्रस्य उपयोगोऽस्ति न वेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“क्जोः” इति सूत्रे निष्ठायां ये धातवोऽनियो भवन्ति तेषामेव कुत्वे भवतीति ध्याख्याय “न कादेः” इति सूत्रं प्रत्याख्यातं वार्तिककारेण । एवच्च गर्जितजिग्रभृतीनां धातूनां निष्ठाविषये सेद्यत्वात्कुत्वन्न भवति । गुच्छगुच्छप्रभृतीनां तु उद्दित्वात् “डवितो वा” इति सूत्रेण कस्त्वार्था वेद्यत्वात् “यस्य विभाषा”

इति सूत्रेण निष्ठाविषये इदागमो न भवतीति “चजोः” इत्यनेन कुरुम् । पद्म
“न कादेः हति सूत्रसत्तार्यां गुः तु प्राप्नोति हति मतद्वये प्रयोगः । उत्तीर्णं धातुर्णं कुरुत्वन्न भवति, सूत्राभावे
परिभाषया वार्तिकमतमेव युक्तम् ।

प्रश्नः—“प्रैषादि” सूत्रे कृत्यग्रहणं कर्तव्यं न वा ।

उत्तरम्—“वासरूपोऽस्त्रियाम्” इति परिभाषया कोट्कृत्यसंज्ञकप्रत्ययम्
पर्यायेण भविष्यतीति “प्रैषादि” सूत्रे कृत्यग्रहणं स्त्रियधिकारादूर्ध्वं “वासरूपोऽ-
स्त्रियाम्” इति सूत्रं कचिन्प्रवर्तते इति ज्ञापयति । पद्म ‘कलयुट्तुमुनुख्येषु
मिथो बाध्यबाधकभावो न भवतीति वचनं सिद्धम् । तेन हसितं हसनमिति भावे
विहितयोः कलयुट्त्रप्रत्ययोविषये “भावे” इति सूत्रेण धन् प्रत्ययो न भवति । अथ
च ईत्यतात् इति खलयें खलप्रत्ययश्च न भवतीति फलम् । अत्र लाघवात् “शक्ति
लिङ् च” इति सूत्रे चकारग्रहणेनैव पूर्वोक्तज्ञापनसम्भवे प्रैषादिसूत्रे कृत्यग्रहणम्-
कार्यमिति दिक् । इति कृदन्तकृत्यप्रक्रिया ।

अथ कृदन्तप्रकरणम् ।

प्रश्नः—“सुव्यजातौ शिनिस्ताच्छ्रील्ये” इति सूत्रे वृत्तिकारभा-
ष्यकारयोः को मतभेदः कथञ्च स इति स्पष्टमभिधीयताम् ।

उत्तरम्—“सत्सूद्विष” इति सूत्रे उपसर्गेऽपीत्युक्त्वादुपसर्गभिन्नस्यैव
सुपो लाभायाहिमस्त्रे पुनः सुब्रहणमिति वृत्तिकारादीनां मतम् । भाष्यकाराद्यु-
“सत्सूद्विष०” इति सूत्रे “सुपि स्थः” इत्यतः सुपीत्यनुवर्तते । तच्चोपसर्गेतरप-
रम् , उपसर्गेऽपीति पृथगुक्तेः । तदिदानुवर्तमानमर्थाधिकारादुपसर्गेतरपरमेव स्थाद-
तः पुनः सुब्रहणमाभितोपसर्गानुपसर्गिशेषस्य सुबन्तमात्रस्य ग्रहणार्थमित्याहुः ।
तेन ‘स ब्रूपोपजीविनाम्’ इत्यादिप्रयोगौ सुबन्तमात्रे शिनिरिति सङ्गच्छते ।

प्रश्नः—“निष्ठायां सेद्धौ” इति सूत्रे सेद्धग्रहणस्य प्रयोजनं लिख ।

उत्तरम्—ननु अनिटि “गोरनिटि” इनि सिद्धत्वात् सेद्धयमेवेदं सूत्रं भवि-
ष्यतीति चेद् । कालावधारणार्थमस्यावइयकत्वात् । यदि निष्ठा सेट्ट्वमापयोत्,
सदेव णिलोपो न तु ततः प्रागिति । अन्यथा ण्यन्तात्कृधातोः कप्रत्यये नित्य-
त्वादिदागमात्पूर्वमेव णिलोपे तत “एकाच उपदेशेऽनुवाचात्” इति इटःप्रतिषेधः
स्थाव । पददपि फलं पूर्वस्मादपि विद्धी स्थानिष्ठावमनाभयणे, तदाश्रये,
तु नेदं प्रयोजनम् । भाष्ये तु सूत्रमिवं प्रत्यारुद्यातम् । “गोराधयने” इति सूत्रे

योगविभागात् वृत्तमिति निपातमस्य नियमार्थत्वेन वृत्तादस्यत्र कारितमित्यादौ णिलोपाभावविज्ञानात् ।

प्रश्नः—‘सानुभतः प्रफुल्लम्’ इत्यत्रस्थदोषवारणेन सूत्रं सफलय ।

उच्चरम्—ननु “अनुपसर्गार्फुलक्षीब” इत्यादिनोपसर्गाभावे निष्ठावयवत् कारस्य लत्वं निपात्यते । अत्र तु उपसर्गास्य सत्वेन लक्ष्वनिपातनमस्मभवमिति चेद् ? न । ‘फुलः-विक्लने, धातोः पवायचि सति रूपस्य सिद्धत्वात् । नचैव सत्युपसर्गे फुलधातोः रूपसिद्धौ सूत्रं व्यर्थमेवेति वाच्यम् । उपसर्गाभावे फुलसाधनिष्ठारणेन सत्रस्य सफलत्वात् । ‘फुलवान्’ इति रूपसिद्धये “अनुपसर्ग-त्फुललक्षीब” इत्यादिसूत्रमावश्यकम् ।

प्रश्नः—‘घृषिशसी वैयात्ये’ इदं सूत्रं विध्यर्थमुत नियमार्थम् । अत्र मतान्तरं निरस्य सिद्धातः प्रदर्शनीयः ।

उच्चरम्—धैरेषादित्वात् “आदितश्च” इत्यनेन शसुधातोइचोदित्वात् “यस्य विभाषा” इत्यनेन सूत्रेणूनिषेधे सिद्धे “घृषिशसी वैयात्ये” हृसूत्रम् अविनये एवैतौ अनिटो द्वत् इति नियमयति । एवज्ञान्यत्रायें इति सति ‘धर्षितः विद्वासित इति रूपद्वयसिद्धिः । नव धैरेभावादिकर्मणोरथयोः प्रत्यये “विभाषा भावादिकर्मणोः” इत्यनेन पाक्षिके इटि प्राप्ते तन्निषेधार्थं विध्यर्थमेवास्तु इति वाच्यम् । वैयात्येऽयं भावादिकर्मणोर्धृषेविधानाभावात् । इत्यच्च नियमार्थमेवेति वृत्तिकारादयः । हरदत्तस्तु—घृषिधातौ आकारग्रहणस्य फलाभावादकरणेन “आदितश्च” इति सूत्राग्रवृत्तौ हटः प्राप्तौ सत्यां तन्निषेधार्थं सूत्रं विध्यर्थमेवेत्याह । तन्मते—वैयात्येऽयं हृद्रहितप्रबोगोऽन्यत्रायें चेत्सहितप्रयोगः सिद्धः । पाणिनिरा आकारग्रहणं कृतमिति भावादिकर्मणोः प्रत्यये जाते “विभाषा भावादिकर्मणोः” इति प्राप्तस्त्येऽयो निषेधार्थं सूत्रं विध्यर्थमेवेत्याह माधवः । एवज्ञ वैयात्येऽयं घृषमित्येकं रूपम् । अन्यत्रायें च घृषम्, धर्षितमिति रूपद्वयं सिद्धम् । अयमेव पक्षो ज्यायान् इति दिक् ।

प्रश्नः—घिनुण उकार उच्चारणार्थः, प्रयोजनार्थो वा इत्यभिधीयताम् ।

उच्चरम्—घिनुणि उकार उच्चारणार्थो नत्वनुबन्धः । सति घानुबन्धे शमि, नौ शमिन इत्यत्र “उगिदचास्” इति नुम्प्रसञ्जयत, शमिनितरेत्यत्र “उगितश्च”

इत्यन्यतरस्यां हस्तः स्थाप, हृष्टयते तु नित्यमिति । अत उकार उच्चाशणार्थं प॑-
वेति वृत्तिकारादयः । भाष्यमते तु अनुबन्ध प॒व, शमिनितरेत्यत्र हस्तविक-
ज्ञप्त्येष्ट्वात् । शमीत्यादौ नुम्प्रसङ्गस्तु तद्विधौ क्षलग्रहणमप्नृष्ट्य श्लम्भानामे-
तद्विधानाद् वार्थते इति ।

प्रश्नः—‘विदत्तम्’ इत्यत्र “दस्ति” इत्यनेन दीर्घः कथं न, सञ्चि-
पातपरिभाषया नत्वं धत्वज्ञ कथं वारितमिति सुष्ठूपपादय ।

उत्तरम्—न च दृत् इति तान्तादेशपक्षे विदत्तमित्यादौ “दस्ति” इति सृ-
त्रेणोपसर्गत्य दीर्घः स्थादिति वाच्यम् । तकारादौ प्रत्यये परे तद्विधानात् । अत्र
तु दकारादिप्रत्ययः । एवं ददिति दान्तादेशे दध इति धान्तादेशे वा न काष्यनुप-
पत्तिः । न च दान्तादेशे “रदान्याम्” इति नत्वं धान्तपक्षे च “शष्ट्यस्तयोर्योऽधः”
इति तकारत्य धत्वज्ञ स्थादिति वाच्यम् । धातुतकारयोस्सन्बन्धेन जायमानो
ददादेशो दधादेशो वा तयोः सम्बन्धविवातके नत्वे धत्वे च कर्तव्ये कारणं न भव-
तीति सञ्चिपातपरिभाषया विरोधात् । यदि प्रादय उपसगाः, तदा “अच उपस-
गांतः” इति रादेशे प्रत्तोऽवत् इत्यादिप्रयोगाः सिद्ध्यन्ति । यदा च प्रादय उपस-
गंप्रतिरूपकाः, तदा] प्रदत्तमवदत्तमित्यादिप्रयोगाः सिद्धयन्तीति ।

‘अवदत्तं विदत्तज्ञ प्रदत्तज्ञादिकर्मणि । सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्टयते’
इति वचनं निसृतम् ।

प्रश्नः—‘यायावरः’ इति रूपं शङ्कानिरासपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—यायायत इति विग्रहे “यश यङ्गः” इति वरचि “अतो लोपः”
इत्यकारलोपे “लोपो व्योर्वलिः” इति यलोपे च कृते रूपं सिद्धम् । न चात्रालोपस्य
स्थानिवद्वावेन वलपरत्वाभावात् यलोपो न स्थादिति वाच्यम् । “न पदान्तद्विवै-
चनवरेयलोपस्वरसवण्डनुस्त्वारदीर्घजश्चरविधिषु” इति स्थानिवद्वावनिवेधात् । न च
लोपस्य स्थानिवत्वेन आर्धधातुकत्वमाश्रित्य “आतो लोप इटि च” इत्योकार-
लोप इति वाच्यम् । “घरे लुसं न स्थानिवत्” इति निषेधादिति दिक् ।

इति पूर्वकृदन्तम् ।

अथोत्तरकृदन्तम् ।

प्रश्नः—‘अर्थग्रहणमस्तितैव सम्बद्धयते’ केनाभिप्रायेणोदं वाक्यं
समुपस्थितमिति दर्शय ।

उत्तरम्—अर्थग्रहणमस्तिवैव सम्बन्धयते । अर्थग्रहणस्य समीपे अस्तिवैतते, हति अवन्वरत्वात् शक्तिशाजानां बटार्हयोऽप्त ग्रथगुपादानादर्थेशङ्कोऽस्तिवैव सम्बन्धयते, न तु शकादिभिरिति तदाशयः । लोकयुक्त्यापि च सिद्धमिदम् । यथाहि—कस्मिभिरुद्ध्यापनादेः स्थाने रिक्ते सति तल्लङ्घुं दूरस्थाः समीपस्थाश्च सर्वे पुरुषाः प्रथतन्ते, परज्ञ तत्र निकटवर्तिन् एव पुरुषास्तत्त्वानं छमन्ते । तथैव यर्थग्रहणस्य अस्तिना सह सम्बन्धे जाते आकाशा निवृत्ता भवति, तदा अन्यपदार्थे तदस्यप्रथासो व्यर्थं हति दिक् ।

प्रश्नः—“निवासचिति” इति सूत्रे चः कः इत्येव वक्तव्ये आदि-ग्रहणं किमर्थम् ?

उत्तरम्—“निवासचितिशरीर” इत्यादिसत्रे चः कः इत्येव वक्तव्ये आदि-ग्रहणमादिभूतस्यैव चकारस्य ककारः स्यादिति बोधनार्थम् । तेन यह्नुकि गोमानां निकेचाय इत्यत्रादिचकारस्यैव कुर्त्वं भवति नतुत्तरस्येति ।

प्रश्नः—“कर्मणि च येन” इति सूत्रे कर्तुर्ग्रहणं किमर्थम् ?

उत्तरम्—कर्तुः किम् ? गुरोः स्नापनं सुखम् । अत्र गुरोः सुखानुभवस्य कर्तुत्वेऽपि ल्युट्प्रकृतेः स्नापयते: कर्तृत्वाभावाज्ञानेन सूत्रेण ल्युट्, अपि तु “ल्युट् च” हति सूत्रेण । तेन नित्योपपदसमासस्याभावः । अनेन तु ल्युटि नित्योपपदसमासः स्यात् ।

प्रश्नः—अतिसुतमम्, अतिदुर्लभम् इत्यत्र “उपसर्गात्खलूबज्ञोः” इति नुम् कथं नेति प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु ‘अतिसुतमम्’ इत्यादाख्युपसर्गद्वयेन “न सुदुर्भ्याम्” हतिसूत्रा-प्रवृत्ती “उपसर्गात्खलूबज्ञोः” इति सूत्रेण नुम् स्यादिति चेद् ? न । स्वत्योः कर्म-प्रवचनीयसंज्ञासत्येन उपसर्गात्खलूबज्ञोः” इति सूत्राप्रवृत्तेः । यदा अते: कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवति, तदा सु इत्येकोपसर्गस्येन “सुदुर्भ्याम्” हति सूत्रेण नुमो निषेधः । यदि च सोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवति, तदा उपसर्गात्खलूबज्ञाभावेन “उपसर्गात्खलूबज्ञोः” इति सूत्राप्रवृत्तिरिति उभयथापि नुमोऽभावः सिद्धः । इत्यत्र उभयोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—“बदो जग्निधर्यपृतिकिति” इति सूत्रे ल्यब्धग्रहणं किमर्थं तत्सफलं लिख ।

उत्तरम्—ननु “अदो जरिवस्यंपत्तिकिति” इति सूत्रे लयब्रह्माभावेऽपि प्रपूर्वकादातोः कस्याप्रत्यये कृते “समासेऽनभ्यपूर्वे कल्पो लयप्” इति सूत्रेण लयवा-देशे “अदो जरिधः” इत्यादिना जग्धयादेशे च प्राप्ते ‘असिर्द्वं बहिरङ्गमन्तरङ्गे’ इति परिभाषया जग्धयादेश एव स्वादिति “अदो जरिधः” इत्यत्र लयब्रह्माण ठर्यथेष्व लयादिति चेद् ? न । “अन्तरङ्गात्पि विधीन् बहिरङ्गे लयश् बाधते” इति परिभा-षाङ्गापनेन लयब्रह्मणस्य सफ्टत्वात् । तेन विधाय इत्यत्र “क्षयातेर्हिः” इति हित्य-ज्ञ । ‘प्रदाय’ इत्यत्र च “‘दोददोः’” इति दत्तवत्र । ‘प्रखन्य’ इत्यत्र “जनसनाखन” इत्यात्वनेत्यादि ।

प्रश्नः—‘मूलकोपदंशम्भुड्के’ अत्र सामर्थ्याभावात् णमुल्प्रत्ययः समासश्च कथमिति लिख ।

उत्तरम्—ननु मूलकेनोपदंशं भुड्के इति विप्रहे उत्तरन्तसकर्मकर्दशाधातुयोगे मूलकस्य शब्दतः कर्मत्वाभावेन मूलकोपदंशयोः सम्बन्धाभावेन सामर्थ्याभावात् “उपद्रवात्प्रतीयायाम्” इत्यनेन णमुल्प्रत्ययः, “तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्” इति समासश्चात्र दुर्लभ इति चेद् ? न । किमुदित्य भुड्कते इति कर्मणोऽपेक्षायाम्मूल-कमुपदश्य भुड्के इत्यर्थं मूलकस्य कर्मत्वं समायाति । मूलकस्य दंशाधातुना सहा-र्थसम्बन्धस्य सत्वात् । यदि तृतीयायाः शब्दत एवान्ये प्रत्यय इच्छते, तर्हि ‘करणे हनः’ इतिवद् ‘उपदंशः करणे’ इत्येवं वदेत् । एवज्ञ तृतीयाप्रहणसामर्थ्येन आ-र्थसम्बन्ध एवात्रेष्टः । शब्दतस्तु मूलकं भुजिक्षियाम्प्रति करणमेष्वत्यलम् । इति शिवम् । इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम् ।

नासिके गालणे घामे महादेवाऽभिदः सुधीः ।

दामोदरस्तस्य सुतस्तत्सुतः श्रीसदाशिवः ॥ १ ॥

शास्त्रिणः श्रीगणपतेल्लघविद्यः सुधीरयम् ।

व्यातनोल्लघुकौमुद्यां मञ्जूषायाङ्ग जोकके ॥ २ ॥

प्रश्नोत्तरीं फक्षिकानां विद्यार्थिप्रीतयेऽकरोत् ।

प्रीयतां तेन विद्येशः सर्वदा श्रीसदाशिवः ॥ ३ ॥

इति श्रीकौण्डन्यकृतावतस—जोशीत्युपाह्वदामोदरात्मजसदाशिवशास्त्रिविरचितेष्व

फक्षिकाप्रश्नोत्तरी समाप्तिगमत् ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

कौमुदीकल्पलतिका

[सिद्धान्तकौमुदीगुसरहस्यप्रकाश]

इस प्रन्थमें नई कल्पनायें, नये २ न्यास, पंक्तियों की सरल व्याख्या, शास्त्रार्थ की अपूर्व कोटियाँ तथा करीब ५० सूत्रों के परिष्कृत शाब्दबोध को देख कर अन्य सूत्रों के शाब्दबोध वही सुगमता से बनाये जा सकते हैं। इसमें स्वरवैदिक-प्रकरण की पंक्तियों की भी व्याख्या परीक्षोपयोगी की गई है, अतः इस प्रन्थ से परीक्षा तथा शास्त्रार्थ तथा सिद्धान्तकौमुदी को पढ़ने पढ़ाने आदि में वही सुविधा होती है। इतना होने पर भी उपकारार्थ प्रन्थ का केवल मूल्य ॥।)

न्यासकल्पलता

इसमें नये नये अपूर्व न्यास, तथा साम्प्रदायिक कोटियाँ जिन्हें शास्त्रार्थी लोग छिपाया करते थे सब प्रकाशित कर दी गई। इसमें म० म० श्रीशिवकुमार शास्त्री जी आदि के न्यास तथा मैथिलसम्प्रदाय के भी न्यासों का शास्त्रार्थ दिखाया गया है। इस प्रन्थ की महत्ता देखनेसे ही शास्त्रार्थ प्रेमी समझ सकते हैं। मूल्य ॥।)

पाणिनीयव्याकरणे वादरत्नम् १-२ भाग

न्यायव्याकरणाचार्य मीमांसकशिरोमाणना श्रीसूर्यनारायणशुक्लेन विरचितम् ।
प्रथमभाग में न्यास प्रकरण तथा द्वितीय भाग में परिष्कार प्रकरण है। न्यास-परिष्कार का इसके मुकाबले दूसरा प्रन्थ आज पर्यन्त अन्यत्र छपा ही नहीं। इस होनों भागों को संग्रह करलेने से किर इस विषय के किसी भी प्रन्थ के संग्रह करने की आवश्यकता न होगी। मूल्य प्रथम भाग १।) द्वितीयभाग १।)

फक्तिकाप्रकाश

म० म० पण्डित श्रीसीतारामशास्त्रीकृतवृद्धृष्टिपणीसहित
सिद्धान्तकौमुदी की सम्पूर्ण फक्तिका अर्थात् किलड पंक्तियोंका सरल व्याख्यान मूल्य ॥।)

प्रातिस्थानम्—चौकाम्बा संस्कृत पुस्तकालय, धर्मारत्स लिटी।

491.25/SAD/S/R/5



175507

